

आर्य्य-समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती

प्रकाशक के दो शब्द

निःसन्देह पर्व व त्योहार ही जाति के जीवन-जागृति के ज्वलन्त प्रमाण होते हैं। इनके विकृत रूप ही जाति के नाश के कारण होते हैं। ये जाति, राष्ट्र और लोकसमाज में नये से नये जोश, उमङ्ग और लहर व जीवन की सात्विक मादकता के स्रोतों में वेग से प्रवाहित होने की शक्ति का संचार करते हैं। वर्तमान समय में भारतवर्ष में इन त्योहारों का रूप बहुत विकृत होगया है। आर्य जाति के पुनरुद्धार के लिये पर्वों, त्योहारों के सात्विक परिष्कार की आवश्यकता को देश, धर्म व जाति के सभी नेताओं ने अनुभव किया है। उपरोक्त आवश्यकता को लक्ष्य में रख कर आर्य नेताओं ने "आर्य-पर्व-पद्धति" को जन्म दिया है। इस का प्रथम प्रकाशन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने मथुरा-ऋषि-दयानन्द-जन्मशताब्दी-महोत्सव के अवसर पर बग़दाद आर्यसमाज की आर्थिक सहायता से किया था, परन्तु उस समय महोत्सव अतिनिकट था अतः समय की संकीर्णता से इसमें अनेक त्रुटियां रह गई थीं, तो भी जनता ने इसे बड़े उत्साह से अपनाया। अब उन समस्त त्रुटियों को दूर करके, अधिक सुन्दर आकार-प्रकार में छाप कर प्रकाशित करने का कार्य श्रीमती सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा ने आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर को प्रदान किया है। 'मण्डल' ने जिस प्रकार ऋषि दयानन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका संस्कार विधि और अन्यान्य ग्रन्थ सुन्दर रूप में प्रकाशित कर तथा सुलभ मूल्य में प्रचारित करके आर्य जनता की सेवा की है, उसी प्रकार इस को भी प्रचारित करने के संकल्प से इसके प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया है।

आशा है कि आर्य जनता इस पुस्तक को भली प्रकार अपनावेगी और घर घर इन पर्वों को विशुद्ध सात्विक रूप में मनाने की परिपाटी का प्रचार करके ग्रामों और नगरों में प्राचीन आर्य वातावरण को उत्पन्न करने में भरसक प्रयत्न करेगी।

निवेदक—

मथुराप्रसाद शिवहरे,

मैनेजिंग डाइरेक्टर,

आर्य-साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

* ओ३म् *

प्रथम संस्करण की भूमिका

आर्य्यसमाजों में इस बात की ज़रूरत समय २ पर अनुभव में आती रही थी कि कोई पर्व (त्योहार) पद्धति बननी चाहिये जिससे समस्त आर्य जगत् में त्योहार एक प्रकार से मनाए जाया करें ऋषि दयानन्द के पवित्र जन्म शताब्दी के अवसर पर आर्य्य समाजों ने बलपूर्वक इस प्रश्न को शताब्दी सभा के आगे रक्खा। सभा ने आवश्यता को स्वीकार करते हुए कतिपय विद्वानों की, जिसमें प्रायः सभी प्रान्तों के अनुभवी विद्वान् शामिल थे, एक उपसभा बनाई जिसके अधीन कुछ अन्य कार्य्यों के साथ इस पद्धति का बनाना भी निश्चय किया गया। उपसभा की ओर से यह काम इन्दौर निवासी प्रसिद्ध लेखक और विद्वान्. श्री पं० भवानीप्रसाद जी को सौंपा गया कि वे पद्धति बनावें। उन्होंने इस प्रार्थना को स्वीकार करके पद्धति रचना का कार्य्य प्रारंभ कर दिया। पण्डित भवानीप्रसाद जी ने पद्धति में निम्न २९ पर्व सम्मिलित किए थेः—

(१) चन्द्रसंवत्सरेष्टि (२) सौरसंवत्सरेष्टि (३) सरस्वती पंचमी, आर्य्यसमाज स्थापना दिवस (४) रामनवमी (५) हनुमज्जयन्ती (६) श्री सूरदास-जयन्ती (७) श्रीशंकराचार्य्य-जयन्ती (८) श्रीबुद्ध-जयन्ती (९) गङ्गावतरण (१०) व्यासपूजा (११) हरि तृतीया (१२) तुलसी स्वर्गारोहण (१३) श्रावणी (१४) कृष्णजन्माष्टमी (१५) विरजानन्दनिर्वाण (१६) विजया-दशमी (१७) शरत्-पूर्णिमा (१८) ग्रम्पतिचतुर्थी (१९) दीपमालिका (२०) भ्रातृद्वितीया (२१) गोपाष्टमी (२२) मकरसंक्रान्ति (२३) वसन्तपञ्चमी (२४) भीष्माष्टमी (२५) सीताष्टमी (२६) दयानन्द-जन्मदिवस (२७) वीरतृतीया (२८) होलिकोत्सव (२९) गुरुदत्तदिवस।

पर्वों के नाम सम्मति के लिए समाचार पत्रों में प्रकाशित किए गए, अनेक सम्मतियां आईं जिन में बहुत से प्रस्तावित त्यौहारों का रखना अनुचित ठहरा कर उनको पद्धति से निकाल देने की प्रेरणा की गई। उपसभा ने समस्त सम्मतियों पर विचार किया और विचार के पश्चात् निम्नाङ्कित १४ पर्वों का रखना स्थिर किया और बाकियों का, पद्धति से निकाल देना निश्चित किया:—

(१) नवसंवत्सरोत्सव (२) आर्य्यसमाज का स्थापना दिवस (३) रामनवमी (४) हरितृतीया (तीजो) (५) श्रावणी, उपाकर्म (६) कृष्णाष्टमी (७) विजया-दशमी (८) दयानन्दनिर्वाण (दीपावली) (९) मकरसंक्रान्ति (१०) वसन्तपञ्चमी (११) सीताष्टमी (१२) दयानन्दबोधरात्रि (१३) लेखराम वीरतृतीया (१४ वासन्ती नवसस्येष्टि (होली)। इन्हीं त्योहारों का समावेश इस पद्धति में हुआ है। पद्धित में न केवल पद्धति है किन्तु प्रत्येक पर्व के सम्बन्ध में एक विस्तृत और गवेषणा पूर्ण बहस की है और पूर्ण निबन्ध भी है, निबन्ध में निबन्धकर्ता ने पर्व के प्रत्येक पहलू से पर्वों की उपयोगिता दिखलाने में सफलतापूर्ण यत्न किया है। पद्धति में भिन्न २ पर्वों के लिए उपयोगी मन्त्र दिए गए हैं। मन्त्रों के संग्रह करने में पर्य्याप्त परिश्रम किया गया है। पद्धति को उपयोगी और देश कालानुसार बनाने की पूरी २ चेष्टा की गई है, निदान, पद्धति, विश्वास है, कि प्रयोग में आने से उयपोगी सिद्ध होगी और आर्य्यसमाज की एक चिरकालिक मांग को पूरा करेगी।

इस बात के कहने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि पण्डित भवानीप्रसाद जी उनके विद्वान् पुत्र और विदुषी पुत्रियों का बहुत अधिक समय और पुरुषार्थ इस पद्धति के तैयार करने में व्यय हुआ है जिससे यह सभा उनकी आभारी है:—

इसका अवश्य शोक है कि जिन पर्वों को पद्धति में रखना, उपसभा द्वारा अस्वीकृत हुआ है, उनके सम्बन्ध में लेखक का पुरुषार्थ व्यर्थ गया।

यह कम सन्तोष की बात नहीं है कि यह पद्धति, मुसलमान खलीफ़ाओं की राजधानी "बग़दाद" नगर में स्थित आर्यसमाज के प्रदानित धन से छपी है। आर्यसमाज बग़दाद ने अपने योग्य प्रतिनिधि श्रीयुत म० रामचन्द्रजी द्वारा एक सहस्र रुपये शताब्दी कोष में भेजे थे कि उससे कोई पुस्तक सभा प्रकाशित करादेवे, सभा ने इस उपयोगी (पर्वपद्धति) के छपने ही में इस धन का व्यय करना उचित समझा और किया। अवश्य पुस्तक की छपाई आदि में व्यय बहुत अधिक हुआ है परन्तु उसके मुख्य भाग की पूर्ति इसी धन से हुई है।

आर्यसमाज बग़दाद के अधिकारी और सदस्य इस उदारतापूर्ण सहायता के लिए हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में यह बात खोल कर लिख दी जाती है कि इन त्यौहारों की संख्या और पद्धति का उत्तरदायित्व शताब्दी सभा पर है परन्तु निबन्धादि के उत्तरदाता लेखक स्वयं हैं।

शताब्दी-कार्य्यालय
मथुरा
माघ कृष्णा ३ ० १९८१ वै०

नारायण स्वामी

* ओ३म् *

लेखक का पूर्व वचन

वीर विक्रम की १० वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मानव जाति के आदिलीलानिकेतन और अपौरुषेय ज्ञान की प्रथमप्रादुर्भावभूमि वृद्ध भारत को काल की कराल गति से अविद्यान्धकार में निमग्न देख कर जब आनन्दकन्द भगवान् दयानन्द का हृदय दया से द्रवित हो उठा और उन्होंने जगत् की आदि गुरु आर्यजाति के उद्धारार्थ और संसारमात्र के उपकारार्थ मुंबापुरी में सं० १९३१ वि० में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना की, तो उस समय आर्यजाति के निकटतम वंशधरों और वेदों के नामलेवा हिन्दुओं के धर्मकर्म की जो अवस्था थी, वह इतिहासज्ञों को अज्ञात नहीं है। एक ओर जहां हिन्दु लोग वेदों के नाममात्र के अभिमानी रह गए थे, बहुत से उन में से वेदों का नाम भी भूल गए थे, उनके स्वरूप वा उनको कुछ भी ज्ञान न था, वहां दूसरी ओर हिन्दूधर्म (यदि उसको धर्म कहा जा सके तो) कुछ अन्धपरम्परागत रूढ़ियों वा पुराने गले सड़े रिवाज़ों का पुञ्जमात्र रह गया था।

आर्यसमाज के संस्थापक और आचार्य महर्षि दयानन्द ने वेदों के वास्तविक स्वरूप के प्रदर्शन, उनके भाष्यनिर्माण और प्रचार में जहां अपने जीवन का अधिक भाग लगाया, वहां उन्होंने हिन्दुओं की व्यर्थ रूढ़ियों के निरसन और उनके स्थान में श्रौत और स्मार्त कर्मकाण्ड के प्रसार में भी न्यून नहीं किया। उन्होंने सनातन षोडश संस्कारों के प्रचारार्थ अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "संस्कारविधि" का प्रणयन किया और इस अद्वितीय ग्रन्थ ने आर्यों के गृहों में शास्त्रोक्त संस्कारों की परिपाटी का जो पुनरुद्धार तथा प्रचार किया है वह सब विज्ञों को विदित ही है। परन्तु आर्यसमाज के दुर्भाग्यवश महर्षि दयानन्द का परोपकारमय जीवन कुसमय

ही मध्य में विरत होगया और वे दश वर्ष ही वेददीप-प्रकाशन और अविद्यान्धकार-निवारण का कार्य कर सके। इस स्वल्प समय में भी जितनी विपुल ग्रन्थराशि की रचना वे कर गये हैं, वह उनकी अगाध तपोबल की द्योतक और जनता को विस्मयदायक है।

महर्षि दयानन्द वेदभाष्य की पूर्ति को अपना सर्वोपरि प्रधान कर्त्तव्य समझते थे और उनके कार्यकाल का अधिकांश उसके अर्पण हुआ था, अतएव उस महान् कार्य से उनको इतना अवकाश न मिल सका कि वे आर्य्यसन्तान के अन्य सब गौण सुधारों में भी अपना समय लगा सकते। आर्यजाति के पर्वों का विषय भी इन्हीं अवशिष्ट सुधारों के अन्तर्गत है। महर्षि ने आर्यसमाज और श्रीमती परोपकारिणी सभा को अपने कार्यों की पूर्ति के लिए अपना उत्तराधिकारी बनाया था और इस लिए आर्य-समाज की प्रतिनिधि सभाओं और परोपकारिणी सभा का मुख्य कर्त्तव्य था कि वे आर्यों के पर्व आदि लौकिक कृत्यों की व्यवस्था बनातीं, परन्तु खेद है कि महर्षि के निर्वाण को ४० वर्ष से ऊपर होने आए, आर्यसमाजस्थ पुरुषों के पर्वों में अभी तक कोई सुधार नहीं हुआ। वैदिक आर्य और पौराणिक हिन्दुओं के पर्व प्रायः अभीतक अपरिमार्जित समान रूप ही धारण किए हुए हैं।

सन्तोष का विषय है कि अब महर्षि दयानन्द के आविर्भाव को शतवर्ष व्यतीत होने पर भारत की आर्य जनता ने प्रथम दयानन्दजन्मशतसांवत्स-रिकोत्सव ससमारोह मनाने का उपक्रम किया है और उसके प्रबन्ध के लिए श्रीमद्दयानन्दजन्मशताब्दी सभा संगठित हुई,। इस सभा ने इस महोत्सव समारम्भ के उपलक्ष्य में अद्यावधि उपेक्षित आर्यसामाजिक साहित्य के पुनरुद्धार और आर्यसामाजिक पुरुषों के कई प्रचलित आचारों के विषय में व्यवस्थाप्रदान का कार्यभार भी अपने ऊपर लिया है। आर्य-

स्मृति, वैदिकसिद्धान्तमण्डन विषयक ग्रन्थनिर्माण, तथा महर्षि की अनुपम कृति सत्यार्थप्रकाश के देववाणी में अनुवाद आदि की आयोजना की गई है। आर्यों के पर्वों की सुव्यवस्था की ओर भी श्रीमती सभा का ध्यान गया और उसके कार्यकर्तृप्रधान माननीय श्रीनारायण स्वामी जी ने एक आर्य-पर्व-पद्धति प्रणयन का कार्य इस लघु लेखक को सौंपा। यद्यपि यह कार्य किसी वेदशास्त्र के पारङ्गत और संसार के पूर्ण अनुभवी विद्वान् से ही सुसाध्य हो सकता था और इस तुच्छ लेखक को इस कार्य की महत्ता को देखते हुए अपनी अयोग्यता का पूर्ण परिचय है, तथापि "आज्ञा गुरूणां ह्यविलङ्घनीया" की उक्ति अनुसार अपने मान्य महानुभाव की आज्ञा को शिरोधार्य करके इस अपनी शक्ति के बाहर काम में हाथ डालने का उस को साहस हुआ है और कृपालु कृतविद्यों के कृपापूर्ण औदार्य और गुणग्राहकता की आशा ने उसको इस चपलता के लिए प्रेरित किया है। अभी तक आर्यों के लिए विशेषतः कोई आर्य-पर्व-पद्धति नहीं बनी है, तोभी इस अक्षुण्ण क्षेत्र में मेरे माननीय मित्र पं० हरिशंकर जी दीक्षित, प्रधान आर्यसमाज नगीना ज़िला बिजनौर ने प्रथम प्रबल प्रयास करके जो अपूर्व त्यौहारपद्धति बना कर प्रकाशित की है और श्री पं० देवदत्त जी त्रिपाठी मंत्री आर्यसमाज नैनीताल ने जो अप्रकाशित "पर्ववृत्त" शीर्षक भव्यभाषाभरित निबन्ध लिपिबद्ध करके भेजा है इन दोनों ग्रन्थों से मेरी विचारधारा को पर्याप्त प्रेरणा मिली है और उसके लिए मैं सुयोग्य ग्रन्थ लेखक-युग्म का बहुत कृतज्ञ हूं। इस बहुमूल्य पुस्तकद्वयी में विद्वान् प्रबन्ध-प्रणेताओं ने पौराणिक हिन्दुओं में प्रचलित समस्त तेवहारों (पर्वों) का समावेश करके उनकी विशद व्याख्या की है, और उनकी संगति लगाने का भी भरसक उद्योग किया है, परन्तु उनमें आर्यपर्वों की किसी साक्षात् तथा क्रमबद्ध पद्धति (कार्यक्रम) का निर्देश न होने तथा वीरपूजात्मक पर्वों के विवेचन के अभाव के कारण एक आर्य-पर्व-पद्धति का अवकाश वा आवश्यकता बराबर बनी हुई है और इस अवकाश की प्रतीति ही प्रणि-

घोषित पद्धति के पृथक् कार्यक्षेत्र की स्थापना करती हुई उसके ग्रंथन की प्रेरिका बनी है।

इस आर्य-पर्व-पद्धति के प्रारम्भ में पर्व पीठिका के रूप से पर्वप्रादुर्भाव-परिचय सन्निविष्ट है, जिस में पर्वों के प्रादुर्भाव के प्रेरक प्रयोजनों की पूर्ण पर्यालोचना का प्रयत्न किया गया है। उसके आगे प्रथम सब पर्वों में समानरूप से प्रयुक्त सामान्य पर्वपद्धति (स्वस्तिवाचनादि सहित सामान्य होम की विधि) तथा प्रत्येक ऋतु की हवन-सामग्री के योग (नुसख़े) देकर प्रत्येक पर्व का शीर्षक पृथक् २ दिया गया है और उसके नीचे प्रत्येक पर्व का पृथक् परिचय बतला कर उसके मनाने की पद्धति लिखी गई है। प्रायः प्रत्येक पर्व पर प्रसिद्ध कवियों की कृति कुछ पद्यावलियां भी पर्वोत्सव पर मनोरञ्जनार्थ गान और संकीर्तन के लिए दीगई हैं। इस पद्धति में सामान्य प्रकरण के अतिरिक्त जो विशेष विधान हैं, उस विशेष पर्व के लिए हवन के जो विशेष मन्त्र विहित हैं वे भी यथातथ्य अङ्कित हैं। उस पर्व से संबद्ध उस दिन होनेवाले सारे गृह्य (पारिवारिक) और सामाजिक कृत्यों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। आशा है कि इससे आर्य जनता की एक चिरापेक्षित आवश्यकता की कुछ पूर्ति हो सकेगी। अन्त में यह निवेदन भी परमावश्यक है कि यतः यह अपने प्रकार का प्रथम प्रयत्न है इस लिए इस में त्रुटियों का अस्तित्व स्वाभाविक ही है। विद्वज्जनों की सेवा में प्रश्रयपूर्वक प्रार्थना है कि वे इस को स्वसहज उदारता पूर्वक आश्रय प्रदान की कृपा करें तथा अपने परमानुग्रह से सुधार और संशोधनदृष्ट्या इस निबन्ध की न्यूनताओं का निर्देश भी नम्र निबन्धक को करते रहें जिससे भावी संस्करण में उनका सुधार हो सके।

इस प्रबन्ध के लिखने में जिन ग्रन्थों से जो अमूल्य सहायता मिली है उसके लिए विनम्र निबन्धक उनका अनुगृहीत और आभारी है।

इस पुस्तिका के लिपिबद्ध करने और संशोधन में प्रियपुत्र पं० मदन-गोपाल विद्यालंकार (काँगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय), विद्यावारिधि, पं० सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ कविरत्न तथा पुत्री सुशीलादेवी शास्त्रिणी ने असीम साहाय्य प्रदान किया है। उसके बिना इसका प्रस्तुत रूप धारण असम्भवप्राय था। अतः उनके लिए भी लेखक आशीर्वाद-पूर्वक कृतज्ञता प्रदर्शित करता है। इस पद्धतिग्रन्थ के प्रूफ़ संशोधन में प्रियमित्र पं० शंकरदेव जी ने जो प्रबल प्रयास किया है इसके लिए विनीत लेखक उनका कृतज्ञ है।

अलमतिपल्लवितेन पण्डितेषु—

हल्दौर (ज़ि० बिजनौर),
उत्तर कोसल प्रदेश
(वर्तमान संयुक्त प्रान्त)
फाल्गुण बदि श्री सीताष्टमी
सं० १९८१, वैक्रमाब्द
१०० श्रीमद्दयानन्दाब्द

विद्वद्वशंवदः—

भवानीप्रसादः

* ओ३म् *

द्वितीय-संस्करण-परिचय

परमपिता की अपार कृपा से इस आर्यपर्वपद्धति ने पर्याप्त प्रचार पाया और इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया है। आर्य जनता में इसकी माँग भी बराबर बनी हुई है, इसलिए इसका यह द्वितीयसंस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस द्वितीयसंस्करण में सर्वतंत्रस्वतंत्र श्री स्वामी स्वतंत्रानन्दजी, उपप्रधान श्रीमती सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के सत्परामर्शानुसार कतिपय प्रयोजनीय परिवर्तन यत्र-तत्र किए गये हैं उनके लिए यह लघु लेखक प्रशंसित सम्मान्य स्वामी जी का कृतज्ञ है।

प्रथम संस्करण के मुद्रण में श्रीमद्दयानन्दजन्मशताब्दी के गत मथुरा-महोत्सव के अवसर पर शीघ्र प्रकाशित होने के कारण, जो त्रुटियां रह गई थीं, वे भी अब यथासंभव दूर कर दी गई हैं और इस पुस्तक का बाह्यरूप रम्यतर बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है, तथापि अल्पज्ञ जनों का कार्य भूल-भ्रम से कभी रिक्त नहीं रह सकता है। इसलिए इस द्वितीय संस्करण में भी जो न्यूनताएँ रह गई हों, उनके लिए प्रिय पाठकों की उदारता से क्षमा की प्रार्थना है।

आशा है कि धर्मप्रेमी आर्यजनता यथापूर्व इसको अपना कर अपने धार्मिक कृत्य पर्वप्रेम का परिचय देगी।

हल्दौर (ज़ि० बिजनौर)
मार्ग शीर्ष सुदि द्वितीया
सं० १९९३ वैक्रमाब्द
११२ श्रीमद्दयानन्दाब्द

विनीतः—

भवानीप्रसादः

आर्यपर्वपद्धति-सूची

—:o:—

❀ ओ३म् ❀

पर्वप्रादुर्भाव-परिचय

संसार के सभी मनुष्यसमूहों, संप्रदायों, जातियों और राष्ट्रों में कुछ ऐसे विशेष नियत दिन हैं, जिन पर वे अपने विशेष मनोभावों के द्योतनार्थ विशेष कृत्य करते हुए देखे जाते हैं। यद्यपि इन विशेष नियत दिनों के अवसरों, ऋतुओं, नामों, संख्याओं और न्यूनता वा अधिकता में बड़ा अन्तर पाया जाता है और उन पर उत्पन्न मनोभावों तथा उनके प्रदर्शन प्रकारों अथवा कृत्यों में भी भारी भेद दृष्टिगोचर होता है, पर उनकी सर्वत्र किसी न किसी रूप में विद्यमानता मानवप्रकृति की एक मौलिक प्रवृत्ति का परिचय देती है। यदि मानवी प्रकृति की इस मौलिक प्रवृत्ति पर दीर्घदृष्टि से विचार किया जाय, तो प्रतीत होगा कि मनुष्यमात्र में सर्वत्र यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वह सदा एकरस ही न बना रहे। वह नित्य-प्रति वा प्रति-दिन जो काम वा व्यवसाय करता रहता है, उसमें ही सदा न जुता रहे, प्रत्युत कभी २ विश्राम-सुख का भी अनुभव किया करे और अपने हृदयोल्लास का प्रकाश करे। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से सभी मानवसम्प्रदायों और जातियों में इन विशेष नियत दिवसों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिनको सभ्य जातियों में पर्व, उत्सव, तेवहार (तिथिवार), ईद, जशन, होलिडे (Holiday), आदि विविध नामों से पुकारा जाता है।

मनुष्य की इसी प्रवृत्ति ने मुसलमान, ईसाई आदि सेमेटिक (Semetic) संप्रदायों में इस आख्यायिका को जन्म दिया था कि जगत्-कर्ता (अल्लाह) ने संसार को छः दिन में रच कर सातवें दिन विश्राम

किया था । ईसाइयों के मतानुसार यह सातवाँ दिन रविवार और मुसलमानों के मत से शुक्रवार या जुम्मा है और वे क्रमशः रविवार या शुक्रवार को 'होलिडे' (Holiday = पवित्र दिन) या 'योम सईद' मानते हैं और उस दिन अवकाश (तातील) मनाते हैं । इसीलिए अंग्रेजी भाषा में प्रत्येक पर्व वा तेवहार (तिथिवार) के अवकाश दिन के लिए (Holiday = पवित्र दिन) शब्द का व्यवहार होता है ।

जगत् की आदि गुरु और संसार में सब से प्रथम सभ्यता तथा विज्ञान का प्रसार करने वाली आर्य्यजाति भला परमपिता परब्रह्म सच्चिदानन्द की आनन्दसत्ता का प्रसार करने में किसी से कैसे पश्चात्-पद रह सकती थी । वस्तुतः आनन्द का पूर्णप्रकाश मानवजीवन में ही होता है । मनुष्य ही आनन्दमय-कोश का अधिकारी है । पर्व या उत्सव पर इस हार्दिक आनन्द के विकास का यथार्थ अवसर मिलता है । यही कारण है कि तत्ववेत्ता, पूज्यपाद आर्य महर्षियों ने यवनजातियों के समान किसी अपने महापुरुष के मृत्यु के दिन शोक न मान कर वेदानुयायी आर्य जाति में जन्मोत्सव आदि के मनाने की परिपाटी का प्रचार किया था । महात्माओं, महापुरुषों तथा विविध प्रकार के वीरों के स्मरणार्थ उनके जन्मोत्सव, विजयोत्सव, धर्मोत्सव आदि ही अन्वर्थक और अनुगुणार्थक हो सकते हैं, इसीलिए वैदिक आर्य जाति में भी इस प्रकार के पर्व वा उत्सव सदा से (वेदों के प्रादुर्भाव काल और आदि सृष्टि से ही) प्रचलित हैं ।

सब भाषाओं की आदिजननी देववाणी में "पर्व" शब्द की व्युत्पत्ति प्रसिद्ध अमरकोश के टीकाकार विख्यात वैयाकरण कौमुदीकार श्रीमद्भट्टोजी दीक्षित के प्रपौत्र श्री भानुजी दीक्षित के मत में "पर्व पूरणे" धातु से निम्न लिखितानुसार होती है—

"पर्वति पूरयति जनानानन्देनेति पर्व ।
पर्व पूरणे भ्वादिः परस्मैपदी सेट् ततो बाहुलकात्कनिन्" ॥

'पर्व' पद संस्कृत कोश में निम्न लिखित अर्थों में आता है—

"पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे विषुवादिषु
दर्शप्रतिपदोः सन्धौ स्यात्तिथेः पञ्चकान्तरे ॥

धरणी कोषः ॥

इनमें से पूर्व कथित होने से "उत्सव" अर्थ ही मुख्य है।

परन्तु इतिहास विद्या के पारंगामी और धार्मिक साहित्य के पर्यालोचक भले प्रकार जानते हैं कि धर्मप्राण आर्यजाति के प्रत्येक भाव और कार्य में धर्म ओतप्रोत रहा है अर्थात् जिस प्रकार ताना बाना कपड़े में मिला रहता है वा ताने बाने के एकत्र संघात को ही कपड़ा कहते हैं, उसी प्रकार आर्य जाति की प्रत्येक क्रिया धर्म स्वरूप है वा उसमें धर्म का अविच्छिन्न सम्बन्ध पाया जाता है। आर्यजाति का कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं दिखलाई देता, जो धर्म से शून्य हो।

आज कल के सभ्यताभिमानी भद्रजनों का धर्म धर्ममन्दिरों की प्राचीर में सीमित रहता है। उसकी गति व्यवहार-शाला (Business room) वा न्यायासन (Court of law) तक नहीं है। बहुत से सम्प्रदाय व्यवहार को धर्म से बाहर की वस्तु समझते हैं। यदि ज्योतिष् आदि विज्ञान के भूमि की गोलाकारता आदि किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों का किन्हीं धर्म पुस्तकों से साक्षात् संघर्ष आ पड़ता है, तो उनके अनुयायी यह कह कर पीछा छुड़ा लेते हैं कि धर्म विज्ञान से पृथक् पदार्थ है, परन्तु वैदिक धर्म की अवस्था सर्वथा भिन्न है—वैदिक धर्म से बाहर कुछ भी नहीं है।

वर्तमान अदालतों में जिन विधानग्रन्थों से मनुष्यों के व्यवहारों (मुक़द्दमों) की निष्पत्ति (फ़ैसला) की जाती है, वे "क़ानून" के ग्रन्थ कहलाते हैं। संप्रति नित्यप्रति का परस्पर आचार सिखलाने वाले निबन्धों के पृथक् ग्रन्थ हैं। जिनको क़ानून-ए-इख़लाक़ या एथिक्स (Ethics) कहते हैं। स्नान आदि स्वास्थ्यप्रद नियमों की शिक्षा देने वाली विद्या वा हाइजीन (Hygiene) के ग्रन्थ इस समय भिन्न ही हैं,

किन्तु आर्यों के यहाँ 'क़ानून' 'आचार' और 'स्वास्थ्यविद्या' धर्म के ही अन्तर्गत हैं और इसीलिए उन सब का समावेश एक ही प्रकार के ग्रन्थों में हो जाता है और उन को 'धर्मशास्त्र' कहते हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ देववाणी में क़ानून के लिये कोई पृथक् शब्द प्रयुक्त नहीं है और आज कल का क़ानून धर्मशास्त्र में ही समाविष्ट है।

आर्यों का कोई नित्य या नैमित्तिक कर्म ऐसा न मिलेगा, जिसमें धर्म का संपर्क न हो। नित्य के कर्मों में सारी दिनचर्या और रात्रिचर्या का धर्म रूप से ही उपदेश दिया गया है—प्रातःकाल उठने, शौच, स्नान, सन्ध्योपासन, निज के परस्पर व्यवहार, व्यापार और भोजनाच्छादन से लेकर रात्रि के शयन तक सब कुछ धर्म के ही नाम से बतलाया गया है, इसलिए आर्यों के नैमित्तिक कर्म पर्व वा तेवहार भी (वसन्तादि छोटे पर्वों से लेकर अश्वमेध आदि महायज्ञों तक) धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, यही आर्य जाति के पर्वों की विशेषता है।

धर्म शब्द का यौगिक अर्थ तो "धृ धारणे" धातु से धार्यते इति धर्मः (जो धारण किया जाय वह धर्म है) होता है और इस प्रकार अग्नि आदि पदार्थमात्र के उष्णता आदि सारे गुण तक धर्मपद वाच्य हैं—धर्म शब्द से कहे जा सकते हैं।

मीमांसा दर्शन के "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इस सूत्र से "जिस विधि में चोदना अर्थात् प्रेरणा पाई जाय वह धर्म है" यह धर्म का लक्षण निर्धारित होता है। इसके अनुसार वेद (श्रुति) की प्रेरणा (आज्ञा) जिस क्रिया के लिये हो, वही धर्म है। आदि धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु के—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

मनुस्मृति अध्याय २। श्लोक १२॥

इस वचनानुसार वेद तथा स्मृति प्रतिपादित और जो अपनी आत्मा

को प्यारा लगे, वही धर्म है अर्थात् मनुष्य की सात्विक (शुद्ध) आत्मा की जिस कार्य में प्रवृत्ति हो, वह भी धर्म है।

धर्मशास्त्रों में अधिक विशदता के लिए धर्म के स्वरूप का स्पष्टीकरण दश लक्षणों से भी किया गया है। धर्मशास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य मनुस्मृति में धर्म के ये दस लक्षण निम्न लिखित श्लोकों में वर्णित हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थ—धैर्य, क्षमा, संयम, चोरी का त्याग, पवित्रता, इन्द्रियों का वशीकरण, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग, ये दस लक्षण धर्म के हैं।

किन्तु उपनिषदों में सारल्य वा संक्षेप के लिए धर्म को वृक्ष का रूपक देकर उसके तीन स्कन्ध (गुद्दे) बतलाए गए हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के—

"त्रयो धर्मस्कंधाः यज्ञाध्ययनदानमिति"

इस वचन में यज्ञ, अध्ययन और दान धर्मरूपी वृक्ष का प्रथम स्कन्ध है यह कहा गया है।

आर्यों के पर्वों पर इन तीन धर्मों, यज्ञ, अध्ययन और दान का विशेष रूप से संपादन किया जाता है, जो आर्यजनता के हृदय को आनन्द से पूरित कर देता है, यही आर्यों के पर्व की पर्वता है। पर्व के दिन प्रति-दिन के व्यवसायों की दौड़ धूप से अवकाश पाकर आर्यगृहों में विशेषता से आनन्दपूर्वक यज्ञ, अध्ययन और दान का अनुष्ठान किया जाता है।

(क) यज्ञ शब्द, यद्यपि संगतिकरण, देवपूजा और दान के उद्देश्य रखने वाले समस्त परोपकारों और धर्मानुष्ठानों के लिए आता है, तथापि आजकल वह (यज्ञ) साधारणतः हवन (अग्नि में चरुप्रदान) के कृत्य में ही रूढ़ होगया है।

(ख) अध्ययन शब्द भी यद्यपि विस्तृत स्वाध्याय अर्थात् वेदादि समस्त सद्ग्रन्थों के पाठ में प्रयुक्त होता है, किन्तु रूढ़ि अर्थ में स्वाध्याय से वेदों का पाठ ही अभिप्रेत है।

(ग) दान को तो सब कोई भले प्रकार जानते ही हैं कि यद्यपि उसमें विद्यादान और अभयदानादि सर्व प्रकार के दान सम्मिलित हैं, किन्तु वह (दान) भी आजकल विशेषतः द्रव्यदान के अर्थ में ही रूढ़ हैं।

आर्यजाति के प्रत्येक पर्व पर इन रूढ़ या विशेषार्थ-विशिष्ट यज्ञ अध्ययन तथा दान का अनुष्ठान अवश्य होता है। प्रत्येक पर्व क्या आर्यों के प्रत्येक संस्कार में यज्ञ अर्थात् हवन अवश्य किया जाता है। हवन में वेद मन्त्रों का पाठ (स्वाध्याय) अनिवार्य ही है और प्रत्येक पर्व वा संस्कार पर दान (दक्षिणा प्रदान) भी अवश्य कर्तव्य है, इसीलिए शास्त्रों में रूपक से दक्षिणा को यज्ञ की पत्नी कहा गया है। कविकुलगुरु कालिदास ने इसी भाव को अपने अमर काव्य रघुवंश में सम्राट् दिलीप की धर्मपत्नी सुदक्षिणा का वर्णन करते हुए क्या ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। कविकुलगुरु की उक्ति है—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन, नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥

रघुवंश प्रथम सर्ग।

महाराज दिलीप की पत्नी का सुदक्षिणा नाम उसके दाक्षिण्य अर्थात् सरलता और उदारता के गुणों में रूढ़ (प्रसिद्ध वा उस अर्थ की द्योतक होने के कारण पड़ा था, और मगध नरेश की वह पुत्री सुदक्षिणा सम्राट् दिलीप की ऐसी ही पत्नी थी, जैसी कि दक्षिणा अध्वर या यज्ञ की पत्नी होती है। जिस प्रकार दक्षिणा के विना यज्ञ अधूरा व अङ्गहीन रहता है, उसी प्रकार सम्राट् दिलीप भी सुदक्षिणा पत्नी के विना अपूर्ण वा हीन थे। पति और पत्नी से मिल कर गृहस्थ शरीर की पूर्ति और दक्षिणा से ही यज्ञ की पूर्णता का भाव इस अनुपम श्लोक में कैसी मनोहर रीति से लाया गया है यह सहृदय संवेद्य ही है।

दान की महिमा से आर्यशास्त्र भरे पड़े हैं, उनमें दान धर्म सब धर्मों में बड़ा किन्तु सुलभ माना गया है। महर्षि मनु ने दान पर इतना बल

दिया है कि केवल अपने पेट के लिये भोजन पकाने का भी निषेध किया उनका वचन है—

"अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्"

अर्थात् जो अपने लिए ही भोजन पकाता है वह केवल पाप खाता है इसलिए बलिवैश्व करके भोजन खाने की आज्ञा है। कलिकाल में दान को मुख्य धर्म माना गया है "दानमेकं कलौयुगे" प्रसिद्ध है। अतएव आर्य पर्वों पर दान-धर्म की धारा बड़े वेग से बहती थी और उस दिन राव से लेकर रंक तक प्रत्येक आर्य स्वसामर्थ्यानुसार दान अवश्य करता था। जहां ब्राह्मणादि सुपात्रों को विविध दान दिया जाता था, वहां प्रत्येक गृह के आश्रित भृत्य वर्ग—नाई, पन्हारे, भंगी आदि नित्य के सेवक व कमीन कान्दू भी—इससे वंचित नहीं रहते थे। उनकी रसनाएं भी विविध प्रकार के स्वादु पक्वान्नों से तृप्त होती थीं। प्रत्येक आर्य (हिन्दू) का घर होम और पक्वान्न की मनोहर सुगन्ध से पास पड़ोस क्या सारे गांव तक को महका देता था। पर आज भारतीय गृहों में अन्नपूर्णा की वह जगमगाहट और दूध घी की नहरों की वह छटा कहां है और फलतः पर्वों की भी वह सजीवता भूतकाल की कथा रह गई है। तो भी आर्यों को पर्व और उत्सवों की आस लगाए रखने वाले भृत्यों (कमीन आदि सेवकों) को यथावित्त अन्न भोजन आदि के दान से शून्य (खाली) नहीं रखना चाहिये। इससे उनकी स्वामिभक्ति की मात्रा अक्षुण्ण तथा दृढ़ बनी रहेगी। परम्परागत प्रथाओं में जो श्लाघ्य और उपादेय अंश हैं, वह कदापि त्याज्य नहीं है, किन्तु सर्वदा संरक्षणीय हैं।

यदि आर्यजाति के पर्वों की गम्भीर और दीर्घदृष्टि से पर्यालोचना की जाय, तो ज्ञात होगा कि जहां धर्मप्राण आर्यों के पर्व यौगिक और रूढ़ अर्थगर्भित यज्ञ, अध्ययन तथा दान के सविशेष और ससमारोह धर्मानुष्ठान के लिए उद्दिष्ट थे, वहां उनमें कभी-कभी किसी विशेष दिन अर्थात् पर्व के दिन हृदयोल्लास प्रदर्शन की मानुषी स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ २

कई अन्य शुभोदर्क, उद्देश्य वा प्रयोजन भी सम्मिलित थे। इस लघु लेखक की समीक्षानुसार आर्यपर्वों का जन्म समय २ पर चार मुख्य उद्देश्यों को लेकर हुआ था। इनमें से कोई पर्व किसी एक मुख्य उद्देश्य को लेकर चलाया गया था और दूसरा किसी दूसरे प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रादुर्भूत हुआ था—सामान्य रूप से तो सब पर्वों में धर्म का प्रथम स्कन्ध समानरूप से विद्यमान ही है।

पर्वों के उत्पादक वे चार उद्देश्य ये हैं—

१—किसी आवश्यक अवसर पर किसी बड़े यज्ञ के लिए। यद्यपि यज्ञ, संगतिकरण आदि के यौगिक (धात्वर्थ) अर्थ से परोपकार मात्र का द्योतक है। तथापि वैदिक कालीन पर्व विशेषतः रूढ़ार्थक बृहद्धवन यज्ञ के सम्पादनार्थ चलाए गए थे। दर्शेष्टि, पौर्णमास्येष्टि, नवसस्येष्टि, तथा चतुर्मास्येष्टि वैदिक कालीन पर्व हैं। यहां वैदिक काल से तात्पर्य वेदों के प्रादुर्भाव और उसके पश्चात् ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों के निर्माण काल तथा याज्ञिक युग से है।

२—किसी विशेष ऋतु (मौसम) के परिवर्तन की ससमारोह सूचना देने के लिए। दीपावली, होलिका महोत्सव, संवत्सरेष्टि तथा नवसंवत्सरारम्भ दिन आदि पर्व इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

३—सर्वसाधारण के मनोरंजन और हृदयोल्लास प्रकाश के लिए। शरत्-पूर्णिमा, हरितृतोया (तीजू) वसन्तपंचमी और होलिका महोत्सव आदि इस वर्ग में सन्निविष्ट हैं। द्वितीय और तृतीय श्रेणी का घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनके लिए उद्दिष्ट कई पर्व एक दूसरे में सन्निविष्ट हैं, जिनकी व्याख्या आगे आयगी।

४—किसी युगप्रवर्तक महात्मा, अद्वितीय कर्मवीर, शूरवीर, प्रणवीर, साहित्यवीर, दानवीर, आदर्शप्रतापी पूर्व पुरुष वा किसी ऐतिहासिक घटना की स्मृति (यादगार) मनाने के लिए। यह ऐतिहासिक उद्देश्य कहा जा सकता है।

आगे इन चारों उद्देश्यों की क्रमशः संक्षिप्त व्याख्या की जाती है—

१—कोई पर्व विशेषतः किसी बृहद्यज्ञ वा परोपकार आदि धर्मानुष्ठान के लिए मनाए जाते हैं। ऊपर बतलाया जा चुका है कि परोपकार आदि धर्मानुष्ठान का ही दूसरा नाम यज्ञ है और यज्ञ शब्द "यज् देवपूजा सङ्गतिकरणदानेषु" धातु से व्युत्पन्न होता है।

(क) देवपूजा में अग्नि आदि देवों का स्वस्थीकरण, प्रकृतिस्थता-प्रापण और विद्वानों का सत्कार सम्मिलित है।

(ख) संगतिकरण का अर्थ मिलना वा सम्मेलन है। इसीको अंगरेजी भाषा में (Harmony) कहते हैं। जिन २ कार्यों में संगतिकरण वा सम्मेलन (Harmony) पाया जाता है, वे सब यज्ञ के अन्दर आ जाते हैं।

(ग) दान का अर्थ सुपात्र व अधिकारी को प्रत्येक प्रकार का साहाय्य प्रदान स्पष्ट ही है। इस प्रकार ससार में जितने भी परोपकारकर्म हैं, वे सब यज्ञ नाम से कहे जा सकते हैं।

परोपकार करना सामान्यतः मनुष्यमात्र और विशेषतः द्विजातिमात्र का सार्वकालिक वा शाश्वतिक धर्म है। इसीलिए उनको पञ्चमहायज्ञ वा पाँच महाधर्मानुष्ठान नित्य प्रति करते रहने का धर्मशास्त्र में आदेश है। उन पञ्च महायज्ञों का आदि स्मृतिकार महर्षि मनु ने इस प्रकार उपदेश दिया है।

ब्रह्मयज्ञं देवयज्ञं, भूतयज्ञञ्च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञञ्च यथाशक्ति न हापयेत्॥

मनुस्मृति अध्याय ४। श्लोक २१॥

अर्थात् (१) ब्रह्मयज्ञ, जो स्वाध्याय वा वेदपाठ भी कहलाता है और सन्ध्योपासन भी उसीके अन्तर्गत है। (२) देवयज्ञ वा अग्निहोत्र आदि हवनयज्ञ, जिसमें अग्नि वायु आदि देवताओं को तृप्त किया जाता है वा दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि अग्नि में स्वास्थ्यप्रद द्रव्य होमकर उनको प्रकृतिस्थ, स्वस्थ वा शुद्ध करके अपने अनुकूल बनाया जाता है।

(३) पितृयज्ञ, जिसमें पितरों वा ज्ञानप्रदान द्वारा स्वरक्षकों तथा विद्या-वयो-वृद्धों (गुरु और पिता आदिकों) के श्रद्धापूर्वक सेवा शुश्रूषण (श्राद्ध) और तर्पण (तृप्ति) किए जाते हैं । (४) अतिथि यज्ञ जिसमें अतिथियों वा उपदेशादि परोपकारार्थ तिथि-रहित भ्रमण करने वाले विद्वानों और संन्यासी आदिकों का भोजनादि से सत्कार किया जाता है । (५) भूतयज्ञ जिसमें स्वभोजन से कुछ अंश निकालकर भूतों अर्थात काक कुत्ते आदि आश्रित प्राणियों और अपाहिज आदि असहाय जनों को बलि वा भाग दिया जाता है इन पाँच महायज्ञों को यथाशक्ति कभी न त्यागे ।

ये पञ्चमहायज्ञ वैसे तो द्विजातिमात्र के आवश्यक नित्य के कर्त्तव्य नियत थे, किन्तु पर्वों, उत्सवों वा तेवहारों के अवसरों पर उनका सविस्तर अनुष्ठान किया जाता था और इसीलिए वेदादि सद्ग्रन्थों का पाठ, ईशगुणसंकीर्तन, बृहद्धवन, ब्राह्मण और विद्या-वयो-वृद्धादि परोपकारी जनों का भोजनादि से सत्कार प्रत्येक पर्व वा तेवहार के आवश्यक अंग माने जाते थे और उनका शुभानुष्ठान उन अवसरों पर अनिवार्य था ।

वैदिककाल का उत्तरार्ध वा ब्राह्मणकाल (ब्राह्मणग्रन्थों का निर्माणकाल) बृहद्यज्ञों वा दीर्घसत्रों के लिए प्रसिद्ध है, इसीलिए ऐतिहासिकों की परिभाषा में उसको यज्ञयुग भी कहते हैं । इस यज्ञयुग में ही विशेष-विशेष अवसर विशेष बड़े-बड़े हवन यज्ञों के लिए निर्धारित किए गए थे, जो नैत्यिक पञ्च महायज्ञों के विपरीत नैमित्तिक यज्ञ कहलाते थे । ये यज्ञ पक्ष, मास, चतुर्मास और षण्मास की नियत अवधियों पर होते थे । पाक्षिक और मासिक यज्ञों के लिए प्रत्येक मास की अमावस्या और पूणमा नियत थीं और अमावस्या के यज्ञ दर्शेष्टि और पूर्णिमा के पौर्णमासेष्टि कहलाते थे । अमावस्या और पूर्णिमा के अवसर एक ओर तो पक्ष और मास की नियतावधि के निर्धारणार्थ रक्खे गये थे, दूसरी ओर चन्द्रमा के पूर्णास्त और पूर्णोदय की इन तिथियों पर पृथिवी तथा पार्थिव देहों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ना सम्भव है, जिसके प्रातिकूल्य निवारणार्थ वा

आनुकूल्य वर्धनार्थ ये दोनों अवसर नैमित्तिक हवन यज्ञ के लिए नियत किए गए होंगे। वर्षाऋतु में तदृतु—संबंधि प्राकृतिक उपद्रवों की शान्ति के लिए श्रावणी-पूर्णिमा के अवसर पर वर्षाकालीन चातुर्मास्येष्टि की जाती थी। श्रावणी (सावनी = ख़रीफ़) तथा आषाढ़ी (साढ़ी—रबी) नवसस्यों (नई फ़सलों) के आने पर आनन्दप्रदर्शनार्थ तथा नवीन अन्नों के होमने के लिए **नवसस्येष्टियों** का प्रादुर्भाव हुआ था। दक्षिणायन और उत्तरायण में सूर्य के प्रवेश पर **अयनोत्सवों** की परिपाटी चली थी। विशेष संक्रान्तियों पर भी विशेष इष्टियों की प्रथा प्रचलित की गई थी। इन सब का सविस्तार वर्णन और विधान यथाप्रसंग आगे किया जायगा।

२—पर्वों का द्वितीय प्रयोजन ऋतु-परिवर्त्तन की सूचना देना है। कई महाशय शंका कर सकते हैं कि ऋतुएँ तो स्वयमेव बदलती रहती हैं, हमारे सूचना देने और उत्सव मनाने से उनमें कोई विशेष परिवर्तन वा न्यूनता अधिकता न हो जायगी। इसके उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक ऋतुपरिवर्तन के समय हमें भी विशेष सन्नाह (तैयारियां) और परिवर्तन करने पड़ते हैं। जैसे वर्षाऋतु के बीतने पर (क) घरों की स्वच्छता, लिपाई पुताई आदि (ख) वर्षाऋतु के दुर्गन्ध आदि मलों वा विकृत वायु जल की शुद्धि तथा (ग) शारदीय वस्त्रों का निर्माण और धारण करना होता है। इसी समय शरदृतु की नवशुभ्र शोभा का शुभागमन होता है। सारे जल थल शरत् श्री से जगमगा उठते हैं। शिशिर ऋतु का अन्त होने पर ऋतुराज वसन्त का सौन्दर्य कैसा मनोहर और चित्ताकर्षक होता है। इस समय भी शारदीय वर्षा (मुहासा) के व्यतीत होनेपर वर्षाऋतु के अवसान के उपर्युक्त कृत्य अर्थात् गृहों की स्वच्छता जल वायु का संशोधन, ग्रीष्मकालीन वस्त्रों का परिधान करना होता है। किसी कार्य को जब तब बिखरे हुए विशृङ्खल रूप में करने की अपेक्षा किसी नियमित तिथि पर

शृङ्खलाबद्ध और नियमित रूप से करना सर्वथा युक्तियुक्त और शिष्ट परम्परानुमोदित है ।

ऋतुओं के प्राकृतिक परिवर्तनों का अनुसरण भी मानुषी प्रकृति के नितान्त अनुकूल है । जब जड़ जगत् भी ऋतुपरिवर्तन का साथ देता है, तब चेतन और मननशक्ति से युक्त मनुष्य उसका अनुगामी न बनकर उदासीन पड़ा रहे, तो कैसा असामंजस्य होगा । अतएव वर्षाकाल के अवसान पर शरद्‌ऋतु में विजयादशमी वा नीराजना और दीपावली तथा शिशिरऋतु के अन्त पर ऋतुराज वसन्त में वसन्त और होली (होलिका) के महोत्सव बड़े समारोह से मनाए जाते हैं । नववर्ष के आरम्भ की नव आशाप्रद और शुभ तिथि पर भावी मङ्गलकामना से संवत्सरेष्टि और नवसंवत्सरारम्भोत्सव होते हैं ।

३—पर्वों का तृतीय उद्देश्य सर्वसाधारण का मनोरञ्जन और हृदयोल्लास प्रकाश है । कोई न कोई दिन मनोरञ्जन के लिए भी नियत रहने चाहिए । प्रतिदिन तेली के बैल की तरह सांसारिक धन्धों के कोल्हू में पिलते रहना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य न होना चाहिए । इस दुःखमय संसार में प्रसन्नता के कुछ क्षण ही सार और बहुमूल्य हैं और आनन्द के यही क्षण जीवन के अस्तित्व वा सजीवता के सूचक हैं । किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

जिन्दगी जिन्दा दिली का नाम है,
मुर्दादिल क्या खाक जिया करते हैं ।

इसके अतिरिक्त मनोरञ्जन वा हृदय के हर्ष का मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है । चिन्ता से बढ़कर मानवी-देह को हानि पहुंचाने वाली कोई वस्तु नहीं है । किसी कवि का पद्य प्रसिद्ध है—

चिताचिन्ताद्वयोर्मध्ये, चिन्ता चैव गरीयसी ।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता चैव सजीवकम् ॥

अर्थात् चिता और चिन्ता में चिन्ता बड़ी है क्योंकि चिता मृत देह

को जलाती है, किन्तु चिन्ता जीवित शरीर को भी जलाती है। प्रशांत महासागर की मारर्कीसन जाति इसका देदीप्यमान उदाहरण है। उसने जब से अपने आनन्दप्रमोदमय उत्सवों का त्याग किया है, तब से वह मृत्यु के मुख में प्रवेश कर रही है। सौ वर्ष पूर्व उसकी जनसंख्या एक लाख साठ सहस्र थी, परन्तु वे अब केवल इक्कीस सौ रह गए हैं। पूर्व उनमें मनोविनोद की इतनी बहुतायत थी कि वे रातदिन उसमें ही व्यस्त रहते थे, परन्तु ईसाई होकर उन्होंने अपनी इस जातीय-विशेषता को छोड़ दिया और फलतः पृथ्वीतल से उनका अस्तित्व मिटने को है।

मन की प्रसन्नता से बढ़कर स्वास्थ्य को उन्नति देने वाला कोई और पदार्थ नहीं है, क्योंकि संसार सङ्कल्पमय है। मनुष्य का जैसा सङ्कल्प होता है, वह वैसा ही बन जाता है। अतः मनुष्य को जहां सदैव प्रसन्नचित्त रहने का उद्योग करना चाहिए, वहां कोई विशेष दिन विशेषतः हर्ष मनाने के लिए ही नियत रखने चाहिए। हमारे विज्ञ और अनुभवी पूर्व-पुरुषों ने कुछ विशेष उत्सव इसी हृदयोल्लास और आनन्दानुभव के लिए नियत किए थे।

ऋतुराज बसन्त का आविर्भाव होते ही सारी प्रकृति बसन्ती बाना पहिन लेती है, उस समय सहृदय रसिक जन स्वयं भी बसन्त-पञ्चमी और होलिका का उत्सव मनाकर प्रकृति का साथ देते हैं।

वर्षाऋतु के आनन्ददायक समय में जब नभोमण्डल में मेघ-मण्डली क्रीड़ारत होती है और चारों ओर हरियाली छा जाती है, तो भारतीय कुलकामिनियां "शोक-नसावन-सावन" में हरियाली तृतीया वा तीजें मनाती हैं।

वर्षा व्यतीत होते ही शरद् का पदार्पण होने पर शरत्पूर्णिमा और दीपावली उत्सव होते हैं।

४—पर्वों का चतुर्थ उद्देश्य किसी युगप्रवर्तक महात्मा, किसी अपने प्रतापी पूर्व

पुरुष वा किसी ऐतिहासिक घटना की स्मृति वा यादगार मनाना है। इससे हमको क्या लाभ होता है? इतिहास विद्या के विज्ञों को विदित है कि संसार में उन्हीं राष्ट्रों वा जातियों ने उन्नति की है, कि जिन को अपने पूर्णपुरुषों का कुछ अभिमान था या जो अपने वंशप्रवर्तक महात्माओं के महान् कार्यों का गौरव रखती थीं वा यों कहिये कि स्वगौरव वर्धक पूर्णपुरुषों और उन के सम्पादित यशस्वी सुकृत्यों की स्मृति उन के हृदय पटल पर अङ्कित थी। इस का क्या कारण है? कारण स्पष्ट है। मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है दूसरों को कोई शुभ काम करता हुआ देख कर उस के मन में भी उस काम को करने की स्वतः इच्छा उत्पन्न होती है, उनके चित्त में भी स्वभावतः उसके सम्पादन का उत्साह अङ्कित हो जाता है। फिर यदि उस शुभ वा महान् कार्य के करने वाले स्वयं उसके पूर्णपुरुष वा बड़े-बड़ेरे हों तो उसबड़े वा अच्छे कार्य में उस मनुष्य की भक्ति और भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि जिनके कुलों में पूर्ण से उत्तम और सत्कर्म होते चले आए हैं, उनकी सन्तान भी प्रायः उत्तम और सत्कर्म करती है, और जिन के बड़ों से कोई कदाचार होता चला आया है उन की सन्तति में भी उस कदाचार वा दुष्कर्म का प्रादुर्भाव प्रायः होता है और कठिनता से उन कुकर्मों के दुष्टाभ्यास (लत) उनसे छुड़ाए जाते हैं। क्योंकि बालक अपने बड़ों का ही आचरण सीखते हैं, वे अपनी आयु को उसी सांचे में ढालते हैं, जिस में उनके पूर्णपुरुष ढले होते हैं।

अब जो बात एक मनुष्य की अवस्था में चरितार्थ होती है, वही मानवसमूहों वा जातियों पर भी घटती है, क्योंकि जाति व्यक्तियों का समुदायमात्र हैं, जो गुण पृथक् पृथक् अवयवों में होता है, वही उनके संघात में भी होते हैं। यही कारण है कि जातियां अपने पूर्व पुरुषों के ही पीछे चलती हैं, वे उनके आचरणों का ही अनुकरण करती हैं। जिन

जातियों में कोई दुष्प्रवृत्तियाँ प्रवेश पा जाती है उनके आचरण बिगड़ जाते हैं, वा उन पर अविद्यादेवी का शासन हो जाता है। यह उसी अवस्था में होता है कि जब उनको अच्छे आचरण देखने को नहीं मिलते। यह तभी होता है कि जब उनका आदर्श श्रेष्ठ पुरुषों और पथप्रदर्शक पण्डितों से संसर्ग वा सम्बन्ध नहीं रहता। ज्ञानियों से ज्ञान मिलने और आदर्श पुरुषों के शुभाचरण न देखने से ही उनमें अज्ञान और दुराचार फैल जाता है। अज्ञानान्धकार के प्रसार पाने पर, यदि उनके पूर्व पुरुषों ने कोई सुकर्म वा महाकार्य भी किए होते हैं, तो उनकी अविद्याग्रस्त सन्तान को वे भी भूल जाते हैं। अंडमन (Andaman) आदि द्वीपों की असभ्य जातियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अंडमन द्वीपों के आज कल के निवासी निरे असभ्य और बर्बर हैं बृटिश-जाति से उनका सम्बन्ध होने से पूर्व उनको धातु तक का ज्ञान भी न था, उनकी दृष्टि में रुपये अशर्फ़ियां और कङ्कर पत्थर बराबर थे। एक बार जब उन्होने अंग्रेजी निवेश (कैम्प) पर आक्रमण किया तो उन्होंने रुपये पैसों वा बहुमूल्य वस्तुओं को हाथ भी नहीं लगाया और केवल बोतलों को शीशे के टुकड़े बनाने के लिए उठा ले गए। इन शीशों के टुकड़ों को वे अपने बाल नोच नोच कर साफ़ करने और सौन्दयार्थ शरीर गोदने के काम में लाते थे। अण्डमन की ये जातियां इतनी मूर्ख हैं कि उनको दो से अधिक गिनती तक नहीं आती है। उन में ऐसे कदाचार प्रचलित हैं कि उनकी आयु २०-३० वर्ष से अधिक नहीं होती और उन की स्त्रियां १०-१२ वर्ष की आयु में ही बूढ़ी हो जाती हैं। किन्तु अण्डमनद्वीपों की भूमि खोदने से भूगर्भ में भाले आदि लोहे के शस्त्र और सभ्य जातियों के ऐसे उपकरण मिले हैं जो, जहां इस बात को सिद्ध करते हैं कि अण्डमान के निवासी सदैव से ही ऐसी असभ्य और बर्बर न थे, वहां वे उन आधुनिक ऐतिहासिकों के विरुद्ध भी साक्षी देते हैं, जो संसार की जातियों के इतिहास को विकासवाद के प्रकाश में पढ़ने के आदी (अभ्यासी) हैं। उनसे सिद्ध होता है कि भूमंडल की

समस्त जातियां सदैव असभ्यावस्था से शनैः २ उन्नति करके उच्च और सभ्यावस्था को ही प्राप्त नहीं होती हैं, किन्तु कभी ज्ञानियों के सम्पर्क के अभाव से सभ्य और उन्नत जातियां भी पतितावस्था को पहुंच जाती हैं। हमारे आदि धर्मसंस्थापक महर्षि मनु ने पूर्व ही इस सचाई का दिग्दर्शन करा दिया था। वे अपनी मनुस्मृति के दशवें अध्याय में लिखते हैं—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके, ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्द्रविडाः, कांबोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः, किराताः दरदाः खशाः॥

मनु० अध्याय १० श्लोक ४३, ४४॥

इसका भाव यह है कि शनैः शनैः सुकर्मों के लोप और ज्ञानियों से संसर्ग न रहने के कारण ये क्षत्रिय जातियां संसार में शूद्रत्व को प्राप्त हो गईं—हीन होती गईं। उनके नाम ये हैं—पौंड्रके, ओड्र (वर्तमान उड़ीसावासी असभ्यजातियों के पूर्वज), द्रविड (मद्रास के उन आदि द्रविडों के पूर्वज, जो सम्प्रति अस्पृश्य और नीचे गिने जाते हैं), कांबोज (अफ़ग़ानिस्तान के काफ़िरस्तान प्रान्त की जातियां), यवन (पारसवासी वा ईरानी), शक (सीदियन Scythian वा तातारी), पारद, पह्लव (Parthian तथा Paropamisade)—ये दोनों जातियां सिन्धु-कुल के समीप रहती थीं—चीनी किरात (जंगली जातियां भील आदि) दरद (गिलगिट की घाटी की जातियों के पूर्वज), खश (आसाम की खसिया पहाड़ी की जातियों के पूर्वज), इस से यह भी ज्ञात होता है कि वर्तमान वैदिक धर्म से बहिष्कृत बहुतसी जातियां के पूर्वज वैदिकमतानुयायी आर्य ही थे। अतएव सभ्यजातियां अपने पूर्वपुरुषों, महात्माओं और उनके प्रतापपूर्ण और शिक्षाप्रद महाकार्यों की स्मृति को सुरक्षित बनाए रखने में प्राणपण से प्रयत्नवान् रहती हैं। इस स्मृति को स्थिर रखने या ताज़ा बनाए रखने के लिए दो उपाय काम में लाए जाते हैं। इनमें से

एक इतिहासविद्या का अध्ययन है। सब सभ्य देशों में विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाया जाता है और उस पर विशेष बल दिया जाता है। इतिहास विद्या पढ़ाने के लिये योग्य योग्य उपाध्याय और महोपाध्याय (Teachers and Professors) नियत किए जाते हैं। वे इतिहास को सब उपायों और विविध सामग्रियों–सुन्दर २ चित्रों और विस्तृत नक़शों से यथाशक्य मनोरञ्जक और सरल बनाकर विद्यार्थियों के कोमल चित्तों में बैठाते हैं और कार्य-कारण-शृङ्खला से परिणाम निकाल कर उनको समझाते हैं, जिससे उनके मन में घटनाओं से परिणाम निकालने का अभ्यास दृढ़ हो जाता है।

पूर्व पुरुषों आदि की स्मृति को स्थिर रखने की दूसरी विधि विशेष-विशेष तिथियों पर, जब उन महात्माओं ने कोई अपूर्व अनुकरणीय और महान् कार्य किये हों, जब उनका जन्म वा निर्वाण हुआ हो, वा जब उनके जीवन की कोई बड़ी घटना घटी हो, पर्वों उत्सवों वा तेवहारों को मनाना है। संसार की सब सभ्य जातियों में इनके स्मारक दिन बड़े उत्साह और समारोह से मनाए जाते हैं और किसी जाति की सभ्यता का अनुमान उसके पूर्वपुरुषों के प्रति सम्मान और आदर वा वीरपूजा से लगाया जाता है। यूरप का फ्रांस देश इस विषय में सब से अग्रगण्य है। पूर्वपुरुषों के जितने स्मारक फ्रांस की राजधानी पेरिस में बने हुए हैं, उतने शायद ही कहीं हैं। जापान के तेवहारों में जो मुख्य ११ तेवहार माने जाते हैं और जिन पर सरकारी अवकाश (तातीलें) दिये जाते हैं, उनमें से ९ पूर्व पुरुषों के स्मारक दिवस हैं। अमरीका में वाशिंगटन के स्मारक दिवस पर जो स्वर्गीय आनन्द और उत्साह का समुद्र उमड़ता है और वहां के आबालवृद्ध नरनारियों में जो चहल-पहल और प्रसन्नता दिखाई देती है, उसका वर्णन वहां के यात्रियों ने बड़े ही रोचक और मनोहर शब्दों में किया है।

हमारा भारतवर्ष इस विषय में किसी से पश्चात्पद नहीं था। कई

पाश्चात्य आधुनिक इतिहासज्ञ भारतीयों के इतिहासानभिज्ञ और इतिवृत्त-परम्परापराङ्मुख होने की आशङ्का करते हैं, परन्तु भारतवर्ष के बीसियों पूर्वपुरुषों के जयन्ती (स्मारक) उत्सव और पर्व इस आशङ्का को नितान्त निर्मूल सिद्ध करते हैं। हमारी आर्यजाति में उन सब महापुरुषों और महात्माओं की जन्मतिथियां और प्रसिद्ध घटनाओं के दिवस अब तक मनाए जाते हैं, जिनको आधुनिक इतिहास ऐतिहासिक काल का पूर्ववर्ती कहता है और जिनके यथार्थ समय निरूपण में भी वह अद्यावधि असमर्थ है। क्या यह सम्भव हो सकता है कि इतिहास-तत्त्व से अनभिज्ञ कोई जाति लाखों और सहस्रों वर्षों की घटनाओं की तिथियां यथातथ्य बतला सके। वस्तुतः वृद्ध भारत के अतिरिक्त इसका उदाहरण और कहीं न मिलेगा कि इतनी पुरानी (लाखों और सहस्रों वर्ष की) घटनाओं की तिथियां परम्परा से जाति के हृत्पटल पर अङ्कित चली आती हों। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि पुराने भारतवासी इतिहासविद्या के काल-गणना (Chronology) विभाग में भी पूर्ण निष्णात थे। इसकी रक्षा के लिए उनके यहां स्मरणातीतकाल से एक यह साधन भी प्रचलित है कि वे अपने नित्य प्रति के धार्मिक कृत्यों में सङ्कल्प का उच्चारण करते हैं, जिसमें आदिसृष्टि से लेकर वर्त्तमान समय तक कालगणना के विस्तृत विवरण का भी वर्णन होता है, जिससे प्रत्येक आर्यसन्तान को अपने धार्मिक और राष्ट्रीय समय निरूपण का पूर्णज्ञान रहता है।

हमारी आर्यजाति में सब बड़े बड़े महापुरुषों और महात्माओं की जो जयन्तियां (जन्मदिन) नियत हैं उनमें रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी, सीताष्टमी तथा हनूमज्जयन्ती आदि प्रसिद्ध हैं।

विशेष घटनाओं के स्मारकों में दयानन्दबोधरात्रि तथा आर्यसमाज-स्थापनादिन आदि उल्लेख्य हैं।

निर्वाण वा पुण्य तिथियों में भीष्माष्टमी, दयानन्दनिर्वाण, तथा वीर-तृतीया मुख्य हैं।

इन स्मारक दिवसों पर उन आदर्श महात्मा पुरुषों के सच्चरित्रों और सद्गुणों का विशेष विचार किया जाता है और उनका वह नियत दिन उनकी गुणावली के सङ्कीर्तन में ही बिताया जाता है।

वस्तुतः किसी विषय का मनोनिवेशपूर्वक विचार वा मनन भी एक प्रकार का अध्ययन ही है और बोलचाल में भी यह व्यवहार (महावरा) प्रचलित है कि हम अमुक पुरुष के चरित्र को अध्ययन कर रहे हैं।

इस प्रकार आदर्श चरित्रों का अध्ययन भी ऊपर बतलाए गए धर्म के एक स्कन्ध स्वाध्याय के ही अन्तर्गत है। सच्चरित्रों का स्वाध्याय हमारे चारित्र्यनिर्माण के लिए सबसे सुगम, सुलभ और सर्वोत्कृष्ट साधन है।

भारतीय इतिहास के अन्धकाराच्छन्न आकाश में इस समय भी कई ऐसे प्रकाशमान नक्षत्र चमक रहे हैं जो इस अन्धकारमयी रात्रि में भटके हुए मार्गभ्रष्ट पथिकों को पथप्रदर्शन और जीवनयात्रा की कड़ी मंजिलों को पूरी करने में पूरी सहायता देते हैं। हमारा परम कर्तव्य है कि हम इस अन्धकार काल में उनके इस परमोपयोगी प्रकाश से अपने को वञ्चित न होने दें और उनकी इस उज्ज्वल ज्योति को अपने मनोमन्दिर में सदा टिमटिमाती रक्खें।

इस समय हमारे इतिवृत्त के दीर्घ काल से अज्ञानान्धकारावृत रहने के कारण हमारे महापुरुषों के विषय में बहुत सी मूढ़ता मूलक भावनाएं और मिथ्याविश्वासजनित अलौकिक आख्यायिकाएं प्रचलित हैं, जिनसे साधारण जनता उनके चरितों को चमत्कारपूर्ण और लोकोत्तर मानकर उनसे शिक्षा ग्रहण करने का बहुत कम प्रयत्न करती है। वह यह समझकर सन्तुष्ट हो जाती है कि उनकी सी अमानवीय और अलौकिक शक्तियां अस्मादृश साधारण जनों में कहां वर्तमान हैं, जो हम उनकी दैवीय अलौकिक लीलाओं का अनुकरण कर सकें।

इस अवस्था में सर्वसुधारों के आशावलम्ब और "संसार की शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति" और "अविद्यानाश" का बीड़ा

उठाने वाले आर्यसमाज का परम कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के मिथ्या-विश्वासों और कपोल कल्पित कथाओं का निराकरण करे। इसका एक अमोघ उपाय यही हो सकता है कि सर्वजनहितैषी आर्यसमाज भारत के उन समस्त वैदिक धर्म से सम्बद्ध धर्मवीरों, कर्मवीरों, सत्यवीरों, प्रणवीरों शूरवीरों, साहित्यवीरों, दानवीरों के स्मारक उत्सव (पर्व) परिमार्जित रूप में ससमारोह मनाने की परिपाटी प्रचलित करे, जिन से जनता को कुछ भी वैदिक धर्म की शिक्षा का आलोक मिल सकता है।

समस्त संसार के विद्वान् मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि किसी जाति के पर्व उस जाति का जीवन है, अथवा दूसरे शब्दों में किसी जाति का अस्तित्व, उन्नति और अवनति उसके पर्वों के प्रकार से ही प्रकट होती हैं, वा आलङ्कारिक वाक्यविन्यास के द्वारा इस भाव को यों भी कह सकते हैं कि जातीय पर्वमुकुर में जातीयजीवन का वास्तविक स्वरूप प्रतिविम्बित होता है। जो जाति अपने पर्वों को उनके यथार्थस्वरूप का ज्ञान रखकर समुचित श्रद्धा, पूर्णप्रेम और असीम उत्साह से मनाती है, उसी जाति को वस्तुतः उन्नत और उत्कृष्ट जाति कह सकते हैं। इसके विपरीत जो जाति अपने जातीय पर्वों के लाभालाभ और गुणदोषविवेचन से शून्य है और उनको उद्देश्य रहित, रीतिनीति-वर्जित बेढंगे प्रकार से रूढ़ि के रूप में मनाती है वा केवल उनकी लकीर पीटती है, वह सभ्य और उन्नत जातियों के समक्ष पतित और मृतप्राय मानी जाती है। जिस प्रकार गङ्गोत्तरी की पवित्र और निर्मल धारा भिन्नप्रकृति देशों में लम्बी यात्रा करके कलकत्ते पहुंच कर मलिन और अपेय होगई है, उसी प्रकार इस पतित समय में अविद्या के घोर अन्धकार में आर्यजाति की पर्वावली का वास्तविक स्वरूप युगयुगान्तर के पश्चात् काल की कुटिल गति से विकृत और बेडौल बन गया है। कराल काल की क्या ही विचित्र गति है कि आषाढी नवसस्येष्टि वा होलिकामहोत्सव आदि कई पर्वों की आकृतियां ऐसी बिगड़ गई हैं कि वर्तमान समय में उनका अभिज्ञान (पहिचान)

भी दुस्तर प्रतीत होता है । आर्यजाति के सुपथ प्रदर्शकों और शिष्टों का परम कर्तव्य है कि वे अपने सनातन और परमोपयोगी पर्वों के शरीर पर से इस चिरसञ्चित-कालिमा और मलिनता को अपने विवेकवारि से प्रक्षालित करके उनका शुद्ध और मन्यस्वरूप संसार में प्रकट करें और आर्य-जनता में उनके मनाने की परिष्कृत परिपाटी का प्रचार करें, जिससे जगत् की आदिगुरु यह आर्यजाति अपने पूर्व गौरव और महत्व को प्राप्त होकर संसार की सभ्यजातियों के सामने अपना सिर ऊँचा कर सके । मङ्गलमूल महेश के अनुग्रह और आशीर्वाद से यह सङ्कल्प पर्ण हो यही पुनः पुनः प्रार्थना है ।

सामान्यपर्वपद्धति

पर्व के मङ्गल दिवस आर्यपुरुषों को अपनी वृत्तियां सांसारिक धन्धो से हटाकर उस पर्व के ससमारोह मनाने में ही लगानी चाहिए । "एक समय पर एक ही कार्य" की कहावत से कोई भी कार्य भले प्रकार तब ही सम्पन्न हो सकता है, जब कि उसको उसके नियत समय पर सर्वतो भावेन किया जाय ।

इसके अतिरिक्त संसार मे सङ्कल्प का ही राज्य है जैसे हमारे सङ्कल्प वा भावनाएं होती है, उसी प्रकार के हर्ष वा विषाद हमको आनकर घेर लेते हैं । पर्व की पर्वता इसीमें है कि पर्व के दिन हमारा हृदय हर्ष से परिपूर्ण रहे । यह तभी सम्भव है जब कि हम अपनी मनोवृत्तियो को अहर्निश की सांसारिक चिन्ताओं से निवृत्त करके पर्व के दिन अपने मान-सरोवर को उत्साह और आनन्द से लबालब किनारों तक भरे रक्खें । हम को इस विषय में योरोप, अमेरिका तथा जापान आदि जीवित-राष्ट्रों और स्वदेशीय मुसलमान, ईसाई आदि अपने सहवासियों से शिक्षा लेनी चाहिए । उन लोगों में उनके तेवहारों के दिन जो आनन्द का नद उमड़ता है और उत्साह का दृश्य देखने में आता है उसका दशांश भी मृतप्राय

हिन्दू नामधारी आर्यजाति में दृष्टिगोचर नहीं होता। हमको चाहिए कि हम अपने पर्व आदि धर्मकृत्यों को पूर्णश्रद्धा और तन्मनस्कता से करना सीखें। पर्व के शुभदिन आर्य, को प्रथम अपने निवासगृहों को यथासामर्थ्य और यथावत् झाड़बुहार और लीप पोत कर शुद्ध करना चाहिए। गृहशुद्धि वा लिपाई पुताई का कार्य अपने सुभीते के अनुसार पर्व के प्रातःकाल किया जाय वा पूर्व दिन कर लिया जाय तो भी कुछ क्षति नहीं है, किन्तु जिस घर में आगे वर्णित होम का कृत्य किया जाय उसका तथा पाकशाला का गोमय से लेपन पर्व के प्रातःकाल अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात प्रातःकाल व सर्योदय से एक मुहूर्त (घण्टा) पश्चात् परिवार के आबालवृद्धवनिता सब जन यज्ञशाला (समर्थ आर्यपरिवारों में यज्ञशाला का स्थान पृथक् नियत रहना चाहिए) वा इस कार्य के लिए उद्दिष्ट सज्जित गृह में एकत्र, यथानियम बैठकर महर्षि दयानन्दप्रोक्त संस्कारविधि ग्रन्थ के निम्नलिखित विधानानुसार ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण का पाठ करके सामान्य होम करें।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः ॥

(१) ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ यजुर्वेद अध्याय ३० मंत्र ३।

(२) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० १३। म० ४ ॥

(३) य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० १५। मं० १३ ॥

(४) यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० २३। मं० ३ ॥

(५) येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० ३२ मं० ६ ॥

(६) प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋग्वेद मं० १० । सू० १२१ । मं० १० ॥

(७) स नो बंधुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।, यजु० अ० ३२ । १० ॥

(८) अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ यजु० अ० ४० । मं १६ ॥

स्वस्तिवाचनम् ॥

अग्नि मीलेपुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥२॥ ऋ० मं० १ सू० १ मं १, ९॥

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः । स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ ३ ॥

स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः । बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥ ४ ॥

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये । देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥ ५ ॥

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति । स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥ ६ ॥

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि ॥ ७ ॥ ऋ० मं० ५ । सू० ५१ ॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञा ।
तेना रासन्तामुरगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥
ऋ० मं० ७ । सू० ३५ ॥

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥ ९ ॥
नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ १० ॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥ ११ ॥
को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥ १२ ॥
येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ १३ ॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ १४ ॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽंहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥ १५ ॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १६ ॥
विश्वे यजत्रा अधिवोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥ १७ ॥
अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥ १८ ॥
अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ १९ ॥
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।

आतर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्त मा रुहेमा स्वस्तये ॥ २० ॥

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥ २१ ॥

स्वस्ति रिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णः स्वस्त्यभि या वाममेति । सा नो अमासो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपाः ॥ २२ ॥

ऋ० मं० १० । सू० ६३ ॥

इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ २३ ॥ यजु० अ० १ । मं० १ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ २४ ॥

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्त्तताम् । देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ २५ ॥

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ २६ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २७ ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२८॥ यजु० अ० २५। मं० १४ । १५ । १८ । १९ । २१ ॥

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ २९ ॥

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ ३० ॥ सा० छन्द आ० प्रपा० १ । मं० १ । २ ॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३१ ॥ अथर्व० कां० १ । अनु० १ । सू० १ । मं० १॥

अथ शान्तिप्रकरणम् ॥

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥

शन्नो भग शमु नः शंसो अस्तु शन्नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः । शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो अर्य्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥

शन्नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शन्न उरूची भवतु स्वधाभिः । शं रोदसी बृहती शंनो अद्रिः शंनो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥

शन्नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शन्नो मित्रावरुणावश्विना शम् । शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शन्न इषिरो अभिवातु वातः ॥ ४ ॥

शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ समन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु । शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥

शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः । शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥

शं नः सोमो भवतुब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः । शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शंनश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तुः मरुतः स्वर्काः । शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

शं नो देव सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः । शं नो पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ १० ॥

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शन्नो अप्याः ॥ ११ ॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः । शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥

शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः । शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥ १३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १—१३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १४ ॥

शन्नो वातः पवताᳪं शं नस्तपतु सूर्य्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १५ ॥

अहानि शं भवन्तु नः शᳪं रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रा वरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ १६ ॥

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंय्योरभि स्रवन्तु नः ॥ १७ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳪं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वᳪं-शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १८ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳪंशृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदःशतात् ॥ १९ ॥ यजु० अ० ३६ । मं० ८ । १० । ११ । १२ । १७ । २४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २० ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।

यद्पूर्व यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २१ ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २२ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २३ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूᳬंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिँश्चित्तᳬं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २४ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २५ ॥ यजु० अ० ३४ । मं० १-६ ॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥ २६ ॥ साम० उत्तरार्चिके० प्रपा० १ । मं० १ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ २७ ॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मममित्रं भवन्तु ॥ २८ ॥ अथर्व० कां० १९ । सू० १७ ॥ मं० ५ । ६ ॥

सामान्यहोमविधि ॥

यज्ञदेश—"यज्ञ का देश पवित्र जहां स्थलवायु शुद्ध हो किसी प्रकार का उपद्रव न हो।"

यज्ञशाला—"इसी को यज्ञमण्डप भी कहते हैं। यह अधिक से अधिक सोलह हाथ समचौरस चौकोण और न्यून से न्यून ८ हाथ की हो। यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो उतनी पृथिवी दो हाथ खोद अशुद्ध मिट्टी निकाल कर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें। यदि सोलह हाथ की समचौरस हो तो चारों ओर बीस खम्भे और

जो आठ हाथ की हो तो बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया की छत वेदी की मेखला से दस हाथ ऊंची अवश्य होवे और यज्ञशाला की चारों दिशाओं में चार द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें, नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन कर और कुंकुम हल्दी मैदा की रेखओं से सुभूषित किया करें।"

यज्ञकुण्ड और उसका परिमाण—जिस समय भारत में यज्ञादि कर्मकाण्ड का पूर्णप्रचार था, तब यज्ञकूण्ड तथा यज्ञमण्डप के निर्माण की विद्या एक विशेष कला के रूप में प्रचलित थी। इस पर सैकड़ों ग्रन्थ बने हुए थे, जिन में अनेकाकृतियों के कुण्ड बनाने की विधियाँ लिखी थीं। ऐसे ग्रन्थों का एक संग्रह श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस से "मण्डपकुण्डसिद्धि" नाम से प्रकाशित हुआ है, उस में कुण्डों के बहुत से प्रकार लिखे हैं। जिनको इस विषय में विशेष उत्साह हो वे उस ग्रन्थ से देख कर नाना आकृतियों के सुन्दर कुण्ड बना सकते हैं। परन्तु वर्तमान काल की आवश्यकतानुसार महर्षि दयानन्द ने अपने संस्कारविधि ग्रन्थ में इस विषय का जो विवरण दिया है, वहां से लेकर नीचे उद्धृत किया जाता है—

'जो लक्ष आहुति करनी हों तो चार-चार हाथ का चारों ओर समचौरस चौकोन कुण्ड ऊपर और उतना ही गहरा और चतुर्थांश नीचे अर्थात् तले में एक हाथ चौकोन लम्बा चौड़ा रहे। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहरा चौड़ा कुण्ड बनाना, परन्तु अधिक आहुतियों में दो हाथ अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छः हस्त-परिमाण का चौड़ा और सम-चौरस कुण्ड बनाना और जो पचास हज़ार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे अर्थात् तीन हाथ गहरा चौड़ा सम चौरस और पौन हाथ नीचे, तथा पच्चीस हज़ार आहुति देनी हों तो दो हाथ गहरा चौड़ा सम-चौरस और आध हाथ नीचे, दश हज़ार आहुति तक इतना ही अर्थात् दो हाथ चौड़ा गहरा समचौरस और आध हाथ नीचे रखना, पाँच हज़ार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहरा समचौरस और साढ़े आठ अङ्गुल नीचे

रहे । यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है । यदि इस में ढाई हज़ार आहुति मोहन भोग खीर और ढाई हज़ार घृत की देवे तो दो ही हाथ का चौड़ा गहिरा समचौरस और आध हाथ नींचा कुण्ड रक्खे, चाहे घृत की हज़ार आहुति-देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा गहरा समचौरस चतुर्थांश नीचे न बनावे और इन कुण्डों में १५ अंगुल की मेखला अर्थात् पांच अङ्गुल की ऊँची तीन बनावे और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी प्रथम पांच अंगुल ऊंची और पांच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावे ।'

यज्ञसमिधा—जो लकड़ी जलने में दुर्गन्ध और अधिक धुवाँ न दे, वही लकड़ी यज्ञसमिधा का काम उत्तम प्रकार से दे सकती है. जैसे पलाश (ढाक), शमी (जाँड), अश्वत्थ (पीपल), वट (वड़) उदुम्बर (कूलर), आम्र (आम), विल्व (बेल) आदि ।

अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान आदि देशों में बादाम की लकड़ी भी यज्ञसमिधा में उत्तम प्रकार से उपयोग में आ सकती है । इङ्गलैंड आदि देशों में शाहबलूत (Oak) की लकड़ी की समिधाएँ भी बन सकती हैं ।

जर्मनी में लेबेंडर तथा भारत और इटली में यूकैलिप्टस (Eucalyptus) की लकड़ी भी इस उपयोग में आ सकती है ।

समिधाएँ वेदी के प्रमाणानुसार छोटी बड़ी कटवा लेवें, परन्तु वे कीड़ा लगी, मलिनदेशोत्पन्न, और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों, अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें ।

होमद्रव्य—होम द्रव्य चार प्रकार के हैं प्रथम-सुगन्धित,) केशर, अगर, तगर श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, आदि ।

नोट—इन में से केशर होम में पृथक् आहुति देने के लिये छाने हुए घृत में मिला देनी चाहिए ।

(द्वितीय-पुष्टिकारक) घृत, फल, कन्द, अन्न, चावल गेहूं, आदि,

(तीसरे-मिष्ट), शक्कर, छुहारे, दाख, आदि (चौथे-रोगनाशक), सोमलता तथा गिलोय आदि औषधियां।

किन्हीं विशेष अवसरों पर स्थालीपाक से भी होम का विधान है उस में पायस (दूध में पके हुए चावल) अथवा मोहन भोग (हलुवा जो कि गोधूमचूर्ण, घृत और शर्करा के पाक में बनता है) आदि व्यंजन पुष्टिकारक होने से उपयोग में लाए जाते हैं। कभी २ यव, तिल आदि अन्न भी होमे जाते हैं।

प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक् २ होमसामग्री विशेष उपयोगी है। कई वर्ष हुए, छओं ऋतुओं—बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर के लिए पृथक् २ हवनसामग्री के योग रावलपिण्डी निवासी कविराज पं० सीताराम जी वैद्य ने आर्यजन्त्री में प्रकाशित कराए थे। उन के प्रत्येक द्रव्य को कई वैद्यक निघण्टुओं में देखा गया है और उन में से जो पदार्थ अलभ्य पाये गए वा जिन का निघण्टुओं में भी पता नहीं लगा, उन को इन योगों में से निकाल दिया गया है तथा इन योगों के प्रत्येक द्रव्य की तारतम्यानुसार मात्रा भी नियत की गई है। इस प्रकार उक्त योगों को परिमार्जित और संशोधित करके नीचे लिखा जाता है। तथा एक योग सर्वऋतुओं के लिए सामान्य हवनसामग्री का भी दिया जाता है। आर्यपुरुष उनको अपने २ वित्त, श्रद्धा, उत्साह और सुभीते के अनुसार काम में ला सकते हैं। कहीं २ हवनसामग्री के बनाने में बड़ी असावधानता की जाती है। पन्सारी लोग जैसे गले सड़े द्रव्य दे देते हैं, उन्हीं को सामग्री बना कर होम दिया जाता है। होम धार्मिककृत्य है, उसको श्रद्धा और सावधानता पूर्वक करना चाहिये। आहवनीय द्रव्यों का संग्रह बड़ी छानबीन और सावधानी से करना उचित है। पर्वों पर सदैव यथाशक्ति उत्साहपूर्वक नवीन सामग्री तैयार करके काम में लानी चाहिए। सामग्री का परिमाण भी अपने वित्त और श्रद्धा के अनुसार ही हो सकता है। धनाढ्यों को श्रावणी, और नवसस्येष्टियों (दीपावली और होली) पर

ऋतु अनुकूल सामग्री और स्थालीपाक से प्रचुर परिमाण में होम यज्ञ करना चाहिए। आहुतियों का परिमाण भी बढ़ा देना उचित है, जो कम से कम छः माशा और अधिक से अधिक एक छटाँक तक हो सकता है। आहुतियों की संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। नियत विधान के अतिरिक्त स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ, गायत्रीमन्त्र, यजुर्वेद और अथर्ववेद के सौमनस्य और ब्रह्मचर्य आदि उत्तमोत्तम सूक्तों से विशेष आहुतियां दी जायँ।

ऋत्वनुकूल-हवनसामग्री ॥

संख्या	नाम		विवरण		भाग
१	छरीलावा भूरि छरीला		भूरिछरीला		१२
२	तालीस पत्र	....	....	....	१२
३	पत्रज	....	....	....	१२
४	मुनक्का	....	दाख	....	३०
५	लज्जावती (पञ्चाग)	....	छुई मुई	....	६
६	शीतलचीनी	....	....	....	१२
७	कपूर	....	....	....	१५
८	देवदारु	....	दयार	....	३०
९	गिलोय	....	...	....	३०
१०	अगर	....	...	....	१२
१२	केसर	...	....	....	१
१३	इन्द्र जौ	....	....	....	१२
१४	गुग्गुल	....	....	....	३०
१५	चन्दन (श्वेत लाल पीला)	....	....	....	३६

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१६	जाविश्री	....	२
१७	जायफल	....	१२
१८	धूपसरल	एक सुगन्धित लकड़ी लाहौर आदि से प्राप्य	३०
१९	पुष्कर मूल (पोहकर मूल)	रेशेदार काले रङ्ग की कड़वी जड़ इस के बदले में कूठ लिया जा सकता है	१२
२०	कमलगट्टा	....	१२
२१	मजीठ	....	१२
२२	वनकचूर	... कपूरकचरी	१२
२३	दालचीनी	....	१२
२४	गूलर की छाल सूखी	....	३०
२५	तेजबल (छाल और जड़)	छाल और जड़ का स्वाद कुछ चरपरा, छाल का रङ्ग पिलापी लिए हुए श्वेत; हरिद्वार और बद्री-नाथ के निकट इसके वृक्ष होते हैं	१२
२६	शंखपुष्पी (पञ्चांग)	हिन्दी नामान्तर शंखाहुली तथा कौड़ियाली	६
२७	चिरायता	....	१२
२८	ख़स	... .	१२
२९	गोखरू ..	....	१२
३०	खाण्ड वा बूरा	... .	६०

संख्या	नाम	विवरण	भाग
३१	गोघृत	....	६०
	योग		६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार शमी (जोंड़) की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाय।

ग्रीष्म-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	सुरा	संस्कृतनाम तालपर्णी और मुरामांसी	१२
२	बायविड़ंग	....	१२
३	कपूर	....	१५
४	चिरौंजी	....	३०
५	नागरमोथा	....	१२
६	पीला चन्दन	.... (कलम्बक) ...	१२
७	छरीला	.... भूरिछरीला ...	१२
८	निर्मलीफल	इसमें पानी के स्वच्छ करने का गुण है	१२
९	सतावर	.... संस्कृतनाम .... शतावरी	१२
१०	ख़स	....	१२
११	गिलोय	....	१२
१२	धूपसरल	एक सुगन्धित काष्ठ पञ्जाब से प्राप्य	१२
१३	दालचीनी	....	१२
१४	लवङ्ग	....	१२

सख्या	नाम	विवरण	भाग
१५	गुलसुर्ख	गुलाब के फूल की पत्तियां	३२
१६	चन्दन	....	२४
१७	तगर	....	१२
१८	तुम्बर	....	३०
१९	सुपारी	....	३०
२०	तालीसपत्र	....	१२
२१	पद्माख	एक प्रकार का काष्ठ जिस का बड़ा वृक्ष हिमालय में होता है	१२
२२	दारु हल्दी	....	१२
२३	लाल चन्दन	....	१२
२४	मजीठ....	....	१२
२५	शिलारस	एक वृक्ष का पिलापी लिए हुए, भूरा गोंद है, वृक्ष विही के सदृश होता है संस्कृत नाम सिल्हक, फ़ारसी में मैया तथा अंग्रेज़ी में Storax कहते हैं	१४
२६	केसर	....	१
२७	जटामांसी	हिन्दी नामांतर बालछड़	१२
२८	नेत्रबाला	नाली का शाक	१२
२९	इलायची बड़ी	....	१२
३०	उन्नाव	....	१२
३१	आमले	....	१२

संख्या	नाम	विवरण	भाग
३२	खांड या बूरा	....	१०
३३	घृत ...	....	१०
	योग		१००

वर्षा ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	काला अगर	....	१२
२	इन्द्र जौ	....	१२
३	धूप सरल	एक सुगन्धयुक्त काष्ठ पञ्जाब से प्राप्य	१२
४	तगर	....	१२
५	देवदारु	....	३०
६	गुग्गुल	....	३०
७	राल	....	३०
८	जायफल	....	१२
९	गोला	....	३०
१०	तेजपत्र	तज के पत्तों के समान होते हैं	१२
११	कपूर	....	१२
१२	बेल,	संस्कृत बिल्व	१२
१३	जटामांसी,	बाल छड़	३०
१४	छोटी इलायची	....	६
१५	बच	....	३०
१६	गिलोय	....	१२
१७	तुलसी के बीज		

संख्या	नाम	विवरण	भाग
	तथा पत्ते	....	१२
१८	बायविडंग	....	१२
१९	श्वेत चन्दन का चूरा	....	३०
२०	नागकेसर	....	१२
२१	चिरायता	....	१२
२२	छुहारे	....	३०
२३	सह्लाहली	....	६
२४	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
२५	नीम के पत्ते	....	३०
२६	गो घृत	....	६०
२७	खाण्ड या बूरा	....	९०
	योग		३००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार ढाक की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाय।

शरद् ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	चन्दन सफ़ेद	... .	३०
२	चन्दन सुर्ख	....	१२
३	चन्दन पीला	....	१२
४	गुग्गुल	....	३०
५	नागकेसर	....	१२
६	इलायची बड़ी	....	१२
७	गिलोय	....	१२
८	चिरौंजी	....	३०

संख्या	नाम	विवरण	भाग
९	गूलर की छाल वा सरसों (सर्षप)	श्वेत ..	३०
१०	दालचीनी	....	१२
११	कपूरकचरी	....	३०
१२	मोचरस	.... सेमल का गोंद	१२
१३	पित्त पापड़ा, शहतरा,	इसके क्षुप लाल और नीले फूल के दो प्रकार के होते हैं, लाल फूल का अधिक गुण वाला है, संस्कृत पर्पट	१२
१४	अगर	....	१२
१५	भारङ्गी	....	१२
१६	इन्द्र जौ	....	१२
१७	असगन्ध	....	१२
१८	शीतलचीनी	....	१२
१९	जायफल	....	१२
२०	पत्रज	....	१२
२१	चिरायता	....	१२
२२	केसर	....	१
२३	किशमिश	....	३५
२४	जटामांसी	.... बालछड़	३०
२५	तालमखाना,	इसके कांटेदार क्षुप वर्षा ऋतु में तालों में होते हैं	१२
२६	सह देवी,	हिन्दी नामान्तर सहदेई, तुलसी के समान पत्तों वाली एक घास है।	६

संख्या	नाम	विवरण	भाग
२७	धान की खील	....	१२
२८	कपूर	....	२१
२९	घृत	....	६०
३०	खाण्ड वा बूरा	....	९०
			६००

नोट — इस ऋतु में सुलभतानुसार ढाक की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाय।

हेमन्त ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	कूट	....	१२
२	मूसली काली	....	१२
३	घोड़ावच,	.... सफ़ेदवच, कोड़ावच .... गुजराती नाम है।	१२
४	पित्तपापड़ा, शहतरा,	इसके क्षुप लाल और नीले फूल के दो प्रकार के होते हैं, लाल फूल का अधिक गुण वाला है, संस्कृत पर्पट।	१२
५	कपूर	....	१२
६	कपूर कचरी	संस्कृत, गन्धपलाशी, अरबी जरम्बाद, एक बेल है, उसकी जड़ को टुकड़े करके सुखा लेते हैं।	२४
७	गिलोय	....	१२
८	पटोलपत्र,	.... हिन्दी नाम परवल	१२
९	दालचीनी	....	१२

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१०	भारङ्गी	... .	१२
११	सौंफ़	....	१२
१२	मुनक्का	... .	२०
१३	गुग्गल	....	३०
१४	अखरोट की गिरी	... .	२४
१५	पुष्करमूल	... .	१२
१६	छुहारे	.. ....	३०
१७	गोखरू	....	१२
१८	कौञ्च के बीज,	.. हिन्दी कैंच	६
१९	बादाम	... ...	१२
२०	मुलहठी	. .	१२
२१	काले तिल	....	३०
२२	जावित्री	.... ..	१२
२३	लाल चन्दन	....	१२
२४	मुश्क बाला	...	६
२५	तालीसपत्र	...	१२
२६	गोला	...	३०
२७	तुम्बुरु	.. तूम्बर ..	३०
२८	ग्वाण्ड या बूरा	.... .	९०
२९	गोघृत	.... ..	६०
३०	रासना	बंग देश के प्राचीन आम्र आदि वृक्षो पर इसकी जड़ वृक्ष की छाल के ऊपर जमी रहती है, फूल नीला, बंजनी, छीटेदार।	६
	योग		६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार आम या खैर की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाय ।

शिशिर ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	अखरोट	....	२४
२	कचूर	कपूर कचरी का एक प्रकार है	१२
३	वायविड़ंग	... .	१२
४	इलायची बड़ी	... .	१२
५	मुलहठी	....	१२
६	मोचरस	.... सेमल का गोंद	१२
७	गिलोय	....	१२
८	मुनक्का	... .	३०
९	रेणुका (संभालू)	... .	६
१०	काले तिल	....	२४
११	तज	....	१२
१२	चन्दन	....	२४
१३	चिरायता	....	१२
१४	छुहारे	....	२४
१५	तुलसी के बीज तथा पत्ते,	....	१२
१६	गुग्गुल	... .	३०
१७	चिरौंजी	....	१२
१८	काकड़ासिंङ्गी	....	१२
१९	सतावर	.... संस्कृत नाम शतावरी	१२
२०	दारु हल्दी	... .	१२

संख्या	नाम		विवरण		भाग
२१	शङ्खपुष्पी	....		.	६
२२	पद्माख	....		....	१२
२३	कौंच के बीज,	....			६
२४	जटासांसी	....		...	३०
२५	भोजपत्र	....		....	६
२६	तुम्बुरु	...	तूम्बर	....	३०
२७	राल	....		....	३०
२८	सुपारी	....		....	१२
२९	घी	....		...	६६
३०	खाण्ड या बूरा	....		....	९०
	योग				६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार गूलर तथा बड़ की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाय।

सर्व-ऋतु–सामान्य–हवन सामग्री

संख्या	नाम		विवरण		भाग
१	सफ़ेद चन्दन का चूरा		....	....	२४
२	अगर	....	...	....	१५
३	नगर	....	....	....	१५
४	गूगल	....	....	....	३०
५	जायफल	....	....	....	७
६	जावित्री	....	....	.	७
७	दालचीनी	....	...	....	१५
८	तालीस पत्र	....	....	....	१५
९	पानड़ी	....	....	....	१५

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१०	लौंग	....	१५
११	बड़ी इलायची	....	१५
१२	गोला	... ...	३०
१३	छुहारा	.... ..	३०
१४	नागरमोथा	....	१५
१५	गुल सुर्ख़	....	३०
१६	इन्द्र जौ	....	१५
१७	कपूर कचरी	....	१५
१८	आँवला	....	१५
१९	किशमिश	....	३०
२०	बालछड़	... .	३०
२१	नागकेसर	....	७
२२	तुम्बुरु	.... तूंबर	३०
२३	सुपारी	... .	३०
२४	नीम के पत्ते या राल	(राल = साल का गोंद)	३०
२५	बूरा वा खांड	....	६०
२६	घी	....	६०
			६००

नोट—(१) ऊपर कोई विशेष तोल न लिखकर भाग इसलिए लिखे गए हैं कि यथेष्ट कम से कम और अधिक से अधिक तोल में सामग्री बनाई जा सके। जैसे यदि ऽ१। सेर सामग्री बनानी हो तो १ भाग २ माशे का होगा।

(२) कपूर, घृत, खांड मेवे और पञ्चांग वाली औषधियां हवन के समय ही तुरन्त मिलानी चाहिए।

यज्ञपात्र—विशेष कर चांदी, तांबे वा काष्ठ के पात्र होने चाहिए। उनमें से मुख्य पात्र निम्नलिखित हैं।

(१) स्रुचवा स्रुवा —स्रुचः खादिरो हस्तमात्रः अंगुष्ठपर्वमात्रखातः परिणाहवत्पुष्करः।

यह खदिर (खैर), अश्वत्थ (पीपल) विकङ्कत (कंघी) वा चन्दन आदि का समग्र बना हुआ वा उस का अग्रभाग तांबे का और पिछला हाथ में पकड़ने का दस्ता उपर्युक्त काष्ठों का बना होना चाहिए, और एक हाथ लम्बा होना चाहिए और उसका अग्रभाग अंगूठे के पोरवे के बराबर गहरा होना चाहिए।

(२) प्रणीता प्रणीतापात्रञ्च द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तार चतुरङ्गुलखातम्।

प्रणीतापात्र १२ अंगुल लबा, चार अंगुल चौड़ा ओर चार अंगुल गहरा होना चाहिए। इसमें यज्ञ कार्य के लिए जल रक्खा जाता है। इस के जल से मार्जन, आदि कार्य होते हैं।

(३) प्रोक्षणी—प्रोक्षणीपात्रं वारणं द्वादशाङ्गुलदीर्घं करतलसम्मित खातं पद्मपत्राकृति कमलमुकुलाकृति वा। इति पारस्करगृह्यसूत्रस्य हरिहर भाष्ये।

प्रोक्षणी वरना वृक्ष की लकड़ी की १२ अंगुल लम्बी हथेली के बराबर गहरी और कमलपत्र वा कमल कलिका के आकार की होनी चाहिये। इस में प्रणीता में से शुद्ध जल लेकर रखना चाहिए तथा घृताहुति कुण्ड में देकर शेष इस में छोड़ते जाना चाहिए।

(४) आज्यस्थाली—तैजसी मृण्मयी वा द्वादशांगुलविशाला प्रादेशोच्चा।

आज्यस्थाली धातु की वा मिट्टी की १२ अंगुल लम्बी तथा १ बालिश्त ऊँची होनी चाहिए, अथवा आवश्यकतानुसार छोटी बड़ी चौड़े मुंह की बनवानी चाहिये। यह घृत रखने के काम में आती है।

(५) चरुस्थाली—तथैव चरुस्थाली ।

चरुस्थाली भी उसी आकार की होनी चाहिए, अथवा शाकल्य के अनुसार छोटी बड़ी भी बन सकती है । यह होम का चरु रखने में उपयुक्त होती है ।

(६) अंगोछा—शुद्ध स्वदेशी हाथ के कते और बुने वस्त्र का एक खण्ड १। गज़ लम्बा और १२ गिरह चौड़ा वा इसके लगभग आकार का होना चाहिए ।

कलशस्थापन—एक मृण्मय वा धातुमय कलश वा घट (घड़ा) जल से भर कर वेदी के ईशान कोण में स्थापित करना चाहिए और उस के ऊपर अग्न्याधान के लिए एक घृत का प्रज्वलित दीपक भी धरा जाय ।

संकल्प -प्रत्येक कर्मकाण्ड के आरम्भ में सङ्कल्पोच्चारण की रीति सनातन से चली आई है । उससे अनेक लाभ हैं । नियमित शब्दों में सङ्कल्पोच्चारण से क्रियमाण कर्म में कर्त्ता की निष्ठा वा इच्छाशक्ति दृढ़ हो जाती है और वर्तमान तिथि आदि के साथ आदिसृष्टि से लेकर अब तक की कालगणना को स्मृति में दृढ़ रखने का यह एक उत्तम साधन है । सङ्कल्पोच्चारण के द्वारा आर्यों को आदिसृष्टि की कालगणना बराबर स्मरण चली आती है, जिसका उदाहरण कहीं अन्यत्र मिलना असम्भव है । प्राचीन परिपाटी के अनुसार सङ्कल्प का रूप निम्न लिखित है:—

ॐ तत्सद्य ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे प्रथमदिने तृतीयप्रहरार्धे श्रीवैवस्वत-मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे कलिप्रथमचरणे (इयत्सु) वर्षेषु गतेषु भारतवर्षान्तर्गते पुण्यभूमावार्यावर्ते (अमुक) स्थाने (इयत्) मिते वैक्रमाब्दे (इयत्) मिते श्रीमद्दयानन्दाब्दे (अमुक) अयने (अमुक) ऋतौ (अमुक) मासे (अमुक) पक्षे (अमुकायां) शुभतिथौ (अमुक) वासरे (अमुक) मण्डलान्तर्गत (अमुक) ग्रामवास्तव्यः (अमुक) गोत्रोत्पन्नो (अमुक) नामा हं (अमुक) पर्वकृत्यं करिष्ये ।

ऋत्विग्वरण—कोई कर्म वा कार्य श्रमविभाग की रीति से ही भले

प्रकार सम्पादित हो सकता है। किसी काम को अपने-अपने कर्तव्य पर नियुक्त पुरुष जिस प्रकार उत्तम रीति से कर सकते हैं वैसा विशेष कर्तव्य के उत्तरदायित्व से शून्य मनुष्य कदापि नहीं कर सकते। इसी श्रमविभाग के सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर कर्मकाण्ड में पुरोहितवरण की रीति प्रचलित है। उसकी परिपाटी ऋषिदयानन्दप्रोक्त संस्कारविधि में इस प्रकार लिखी है।

यजमानोक्तिः—ओमावसोः सदने सीद। इस मन्त्र का उच्चारण कर के ऋत्विक् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करे।

पुरोहितोक्तिः—ओं सीदामि। ऐसा कहके, उसके लिए जो आसन बिछाया हो, उस पर बैठे।

यजमानोक्तिः—अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे।

पुरोहितोक्तिः—वृतोस्मि।

पुरोहित का लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभी, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, सुशील, वैदिक-धर्म्मावलम्बी और वेदवित् पुरोहित का वरण करें। उसका आसन वेदी से पश्चिम पूर्वाभिमुख हो, और यजमान का आसन पश्चिम में पूर्वाभिमुख हो अथवा दक्षिण में आसन पर बैठ के उत्तराभिमुख रहे और पुरोहित को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना चाहिये, वह प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठे, और उपस्थित कर्म के बिना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करे।

"आचमनम्—यज्ञ में उपस्थित यजमान और पुरोहित अपने अपने जलपात्रों से इन मन्त्रों से तीन आचमन करें।

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ इससे एक।

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ इससे दूसरा।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥ इससे तीसरा आचमन करें।"

"अङ्गस्पर्शः—नीचे लिखे मन्त्रों से जल द्वारा अङ्गों को स्पर्श करें।

ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख।

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र।

ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आंखें।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु।

ओं ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा।

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु। इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जलस्पर्श करके मार्जन करना चाहिये। तदनन्तर पूर्वोक्त समिधाओं का वेदी में चयन करें।"

अग्न्याधानम्—ओं भूर्भुवः स्वः ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके शुद्ध अग्नि लाकर, अरणी से उत्पन्न करके अथवा घृत के पूर्वप्रज्वलित दीपक से कपूर को जला कर उस को स्रुवे में धर कर यजमान वा पुरोहित उससे अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे। वह मन्त्र यह है:—

"ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ १ ॥ य० अ० ३। म० ५ ॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन (पंखे) से अग्नि को प्रदीप्त करे।

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते स ँ सृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥ यजु० अ० १५। मं० ५४ ॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखी पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा उन

में से नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं:—

इस मन्त्र से एक समिधा:—

ओ३म् अयं त इध्मऽआत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध-वर्धय चास्मान्प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय, स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम॥

एक एक समिधा को नीचे लिखे एक एक मन्त्र से अग्नि में चढ़ावे। वे मन्त्र ये हैं—

इन दोनों मन्त्रों से दूसरी समिधा—

ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन, स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम॥ १॥

ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जात-वेदसे, स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम॥ २॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा—

ओ३म् तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि बृहच्छोचा यविष्ठय स्वाहा॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदन्न मम॥ ३॥ य० अ० ३। मन्त्र १। २। ३॥

इन मन्त्रों से समिधाधान करके होम का शाकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चांदी, कांसी आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठ पात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें। तत्पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण करके छानकर, पूर्वोक्त सुगन्ध्यादिपदार्थ मिला कर पात्रों में रक्खा हो, उस (घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो) में से कम से कम १ माशा भरे, और अधिक से अधिक छटाँक भर की आहुति देवे। यही आहुति का प्रमाण है। उस घृत में से चमचा, कि जिस में छः माशा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भर के नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी चाहिये॥

इससे पांच घृताहुति—

जलसिञ्चन—तत्पश्चात् वेदी के पूर्व दिशा आदि में अञ्जलि में जल लेकर चारों ओर छिड़कावें। उसके मन्त्र ये हैं—

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व ।। इस मन्त्र से पूर्व में

ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व ।। इससे पश्चिम में

ओ३म् सरस्वत्यनुमन्यस्व ।। इससे उत्तर में और

ओ३म् देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपू केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ।। यजु० अ० ३० । मं० १ ॥ इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावें।"

इसके पश्चात् सामान्य-होमाहुति पर्वों में अवश्य करें "इसमें मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुतियां दी जाती हैं, उनमें से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक और उस (यज्ञकुण्ड) के दक्षिण भाग में जो दूसरी आहुतियां देनी होती हैं उनका नाम 'आघारावाज्याहुति' है और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं उनको "आज्यभागाहुति" कहते हैं। घृतपात्र में से स्रुवा को भर, अङ्गूठा, मध्यमा और अनामिका से स्रुवा को पकड़ के -

आघारावाज्यभागाहुतिः—

ओं अग्नये स्वाहा ।। इदमग्नये इदन्नमम।

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग में—

ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय इदन्न मम।

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी। तत्पश्चात्

आज्यभागाहुतिः—

ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये इदन्न मम।

ओं इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय इदन्न मम।

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुतियां देनी चाहिए। उसके

पश्चात् चार आहुतियां अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देवें। जब प्रधान होम अर्थात् जिस-जिस पर्व में जितना २ होम करना हो, करके पश्चात् पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागाहुति) देवें, पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भर के प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें।

व्याहृति आहुतियां:—

(१) ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

(२) ओं भुववायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥

(३) ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय इदन्न मम ॥

(४) ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः, इदन्न मम ॥ पार० का० १ । कं० ५ । सू० ३, ४ ॥

ये चार घी की आहुतियां देकर स्विष्टकृत होमाहुति एक ही है, यह घृत अथवा स्थालीपाक की देनी चाहिये, उसका मन्त्र यह है।

स्विष्टकृद्धोमाहुतिः—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते, इदन्न मम ॥ शत० का० १४ । अ० ८ । प्र० ७ । क० ५ ॥

इससे एक आहुति करके प्राजापत्याहुति नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोल के देनी चाहिये।

प्राजापत्याहुतिः—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

इससे मौन होकर के एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवे, वे चार मन्त्र ये हैं।

प्रधान होम सम्बन्धी आज्याहुतिः—

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्ज्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ।। इदमग्नये पवमानाय, इदन्न मम ।१।
ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयं स्वाहा ।। इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ।। २ ।।
ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा । इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ।। ३ ।। ऋ० मं० ९ । सू० ६६ । मं० १९, २०, २१ ।

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा । इदं प्रजापतये इदन्न मम ।। ऋ० मं० १०, सू० १२१, मं०१०।।

इनसे घृत की ४ आहुति करके "अष्टाज्याहुति" इन निम्न लिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गल कार्यों में ८ आहुति देवें ।

ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽअवयासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ।। इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदन्न मम ।। १ ।।

ओं स त्वन्नाअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीक सुहवो न एधि स्वाहा ।। इदमग्नीवरुणाभ्यां इदन्न मम ।। २ ।। ऋ० मं० ४। सू० १। मं० ४,५।।

ओं इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वामवस्युराचके स्वाहा । इदं वरुणाय इदन्न मम ।।३।। ऋ० मं० १ । सू० २५ । मं० १९।।३।।

ओं तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशं समान आयुः प्रमोषीः स्वाहा ।। इदं वरुणाय इदन्न मम ।। ऋ० मं० १ । सू० २४ । मं० ११ ।।

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा ।। इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः इदन्न मम ।।५।।

ओं अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमयासि। अयानो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषज ꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे इदन्न मम॥ ६॥

ओं उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽदितये स्याम स्वाहा। इदं वरुणाया-ऽऽदित्यायाऽदितये च इदन्न मम॥७॥ ऋ०।मं० १। सू० २४।मं० १५॥

ओं भवतन्नः स मनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञ ꣳ हि ꣳ सिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदाभ्यां इदं न मम॥ ८॥ य० अ० ५। मं० ३॥

सब पर्वों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे, न शीघ्र ही न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्यभाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है करे। यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे, यदि कोई कार्यकर्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करें और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावे।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र से स्रुवा को घृत से भर के एक आहुति देवे।

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिच यद्वान्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्वि-ष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्राय-श्चित्ता हुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इद-मग्नये स्विष्टकृते, इदन्न मम॥ शत० का० १४। अ० ८। प्र० ७। क० ५॥

ओ३म् सर्वं वै पूर्ण ꣳ स्वाहा।

इस मन्त्र से एक आहुति देवे। ऐसे ही दूसरी और तीसरी आहुति देके, जिसको दक्षिणा देनी हो दे देवे, वा जिसको जिमाना हो जिमाकर और दक्षिणा देकर सबको विदा करे। स्त्री-पुरुष हुतशेष को—घृत, भात वा मोहनभोग को—प्रथम जीम के तत्पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।

नवसंवत्सरोत्सवः (संवत्सरेष्टि)

चैत्र सुदि प्रतिपदा

अथवा

मेष संक्रान्ति

ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥

ऋग्वेद, मं० १०, सू० १९ ॥

स्वस्ति महज्जन ! स्वागत सज्जन ! आशाभाजन प्यारे ।
नवसंवत्सर ! समयराज के वत्स रसाल दुलारे !
स्वागत आगामिनी भामिनी के प्रिय बालक बारे !
स्वागत, स्वागत ! स्वस्ति नवागत आदरयोग्य हमारे !

(कविवर पूर्ण)

अनादि पुरुष करुणावरुणालय परम पिता परमेश्वर ने अपने अपार अनुग्रह से स्वकीय अनादि ज्ञान ऋग्वेद की उपर्युक्त श्रुतियों में सृष्ट्युत्पत्ति क्रम का उपदेश देते हुए बतलाया है कि प्रदीप्त आत्मिक तप के तेज से ऋत और सत्य नामक सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियमों का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् प्रलय की रात्रि हो गई (किन्हीं भाष्यकार के मत से यहां रात्रि शब्द अहोरात्र का उपलक्षण है और वे उससे प्रलय का ग्रहण न करके इसी कल्प की आदि सृष्टि में ऋत और सत्य के अनन्तर

अहोरात्र का आविर्भाव मानते हैं)। फिर मूलप्रकृति में विकृति होकर उसके अन्तरिक्षस्थ समुद्र के प्रकट होने (उसके क्षुब्ध होने) के पश्चात् विश्व के वशीकर्ता विश्वेश्वर ने अहोरात्रों को करते हुए ("अहोरात्राणि विदधत्कुर्वाणः" आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली संध्याभाष्यसमुच्चय पृष्ठ ९) संवत्सर को जन्म दिया। इससे ज्ञात होता है कि आदि सृष्टि में प्रथम सूर्योदय के समय भी संवत्सर और अहोरात्रों की कल्पना पर ब्रह्म के अनन्त ज्ञान में विद्यमान थी। उनके जन्म देने का यहां यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि वेदोपदेश द्वारा इस संवत्सरारम्भ और उसके मान की कल्पना का ज्ञान सर्व प्रथम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को हुआ वा यों कहिये कि प्रत्येक सृष्टिकल्प के आदि में यथानियम होता है और उन्होंने यह जान लिया कि इतने अहोरात्रों के पश्चात् आज के दिन नवसंवत्सर के आरम्भ का नियम है और उसी के अनुसार प्रति वर्ष संवत्सरारम्भ होकर वर्ष मास और अहोरात्र की कालगणना संसार में प्रचलित हुई।

अतः यह वैदिक धर्म का सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि वेदों के शब्दों से ही संसार में सारी संज्ञाओं (पदार्थों के नामों) का प्रचार होता है, जैसा कि महर्षि मनु ने अपनी स्मृति में लिखा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्यः एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

मनुस्मृति अध्याय १। श्लोक २१।

अर्थात् उस परमात्मा ने सृष्टि के आदि में सब के पृथक् २ नाम, कर्म और व्यवस्था वेदों के शब्दों को लेकर ही बनाईं। इसी की पुष्टि में प्रसिद्ध कवि करुणारसदीक्षागुरु भवभूति के विश्वविश्रुत उत्तर राम चरित नाटक में निम्नलिखित श्लोक आता है—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

उत्तररामचरित अङ्क १ श्लोक १०।

इसका भावार्थ यह है कि लौकिक साधुओं की वाणी वस्तुस्थिति अर्थात् वस्तुस्वरूप का अनुसरण करती है अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुसार ही उनके स्वरूप का वर्णन करती हैं, किन्तु सृष्टि कल्प के आद्य ऋषियों की वाणी वा उनके शब्दों के अनुसार ही वाच्य अर्थ का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् उनके शब्दों को लेकर ही पदार्थो की परम्परा प्रचलित होती है। तदनुसार

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। यजुर्वेद अध्याय १३ मंत्र २५।

वेद की इस श्रुति में आए हुए मधु तथा माधव शब्दों को लेकर बसन्त ऋतु के मासों के नाम पड़े हैं और क्रमानुसार आदिम प्रथम मास का नाम मधु और द्वितीय मास का माधव रक्खा गया।

कालक्रम से आगे चलकर ज्योतिष विद्या के विकास और विस्तार के समय काल की चान्द्र गणना प्रचलित होने पर मासों के मधु आदि वैदिक नाम बदल कर चैत्र आदि चान्द्र नाम रक्खे गए। चान्द्र मासों का नाम करण इस नियम से किया गया था कि जिस पूर्णिमा को जो नक्षत्र पड़े वह पूर्णिमा उसी नक्षत्र की नामधारिणी होगी और पूर्णिमा के नक्षत्रयुक्त नाम के अनुसार ही मास का नाम भी रक्खा जायगा। महामुनि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध अष्टाध्यायी व्याकरण में इस नियम को यूं सूत्रित किया है–

सास्मिन्पौर्णमासीति

वृत्ति—प्रथमासमर्थात्पौर्णमासीविशेषवाचिनः शब्दात् अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति।

अर्थ—पौर्णमासीविशेषवाची शब्द से सप्तम्यर्थ में (जिस शब्दवाचक मास में वह पौर्णमासी पड़े, उस शब्द से) यथाविहित प्रत्यय हो।

यथा—चित्रा नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी चैत्री, सा (चैत्री पौर्णमासी) यस्मिन् स चैत्रो मासः अर्थात् जिस पूर्णमासी को चित्रा नक्षत्र हो वह चैत्री कहलायगी और चैत्री पूर्णमासी जिस मास में पड़ेगी वह चैत्र मास

होगा । इसी नियम के अनुसार मासों के चैत्र, वैशाख आदि नाम प्रचलित हुए हैं ।

उपर्युक्त विवेचनानुसार ही यह इतिहास बन गया कि सृष्टि का आरम्भ चैत्र के प्रथम दिन अर्थात् प्रतिपदा को हुआ था, क्योंकि सृष्टि का प्रथम मास वैदिक संज्ञानुसार मधु महलाया था और वही फिर ज्योतिष में चान्द्र काल गणनानुसार चैत्र कहलाने लगा था । इसी की पुष्टि में ज्योतिष के हिमाद्रि ग्रन्थ में निम्नलिखित श्लोक आया है—

चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा, ससर्ज प्रथमेऽहनि ।
शुक्लपक्षे समग्रन्तु, तदा सूर्योदये सति ।।

अर्थ—चैत्र शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय ब्रह्मा ने जगत् की रचना की ।

प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य कृत "सिद्धान्त शिरोमणि" का निम्नलिखित पद्य भी इसी पक्ष का पोषक है—

लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानो, तस्यैव वारे प्रथमं बभूव ।
मधोः सितादेर्दिनमासवर्षं युगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः ।।

भावार्थ—लङ्का नगरी में सूर्य के उदय होने पर उसी के वार अर्थात् आदित्यवार में चैत्र मास शुक्ल पक्ष के आरम्भ में दिन मास वर्ष युग आदि एक साथ आरम्भ हुए ।

आगे चलकर इस पूर्व परम्परानुसार आर्यों के अधिकांश संवत् चैत्र प्रतिपदा से ही आरम्भ किए गए ।

ब्रह्म दिन, सृष्टि संवत्, वैवस्वतादिमन्वन्तरारम्भ, सतयुगादियुगारम्भ, कलिसंवत् वैक्रमसंवत्, चैत्र सुदि प्रतिपदा को ही आरम्भ होते है ।

आदि सृष्टि से ही आर्य जाति में नवसंवत्सरारम्भ का पर्व मनाने की प्रथा प्रचलित है । मुसल्मानी राज्य में आर्यों की सनातन संस्थाएँ अस्त-व्यस्त होने पर भी नवसंवत्सरोत्सव के ससमारोह मनाने की परिपाटी बराबर बनी हुई थी । इसका प्रमाण प्रसिद्ध परमतासहिष्णु, पक्षपाती,

अत्याचारी मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब के अपने ज्येष्ठ पुत्र युवराज मुहम्मद मोअज़्ज़म के नाम एक पत्र से मिलता है, जिसमें उसने घृणित शब्दों में लिखा था कि—

ایں روز عیاد مجوس است و با عتقد کفار هنود روز جلوس
بکر ماجیت لعیں و مبداء تاریخ هند

अक्षरान्तर—ईरोज़ ऐयाद मजूस अस्त, व एतक़ाद-कफ़्फ़ार-हनूद रोज़-ए-जलूस विक्रमाजीत लईन व मबदाए तारीख़-ए-हिन्द ।

भाषान्तर—यह दिन अग्नि पूजकों (पारसीकों) का पर्व है, और काफ़िर (धर्मशून्य) हिन्दुओ के विश्वासानुसार धिक्कृत विक्रमाजीत की राज्याभिषेक तिथि है और भारतवर्ष का नवसंवत्सरारम्भ दिवस है ।

नवसंवत्सरारम्भोत्सव संसार की प्रायः सब सभ्य जातियों में मनाया जाता है। ईसाइयों के यहां उसको न्यू इयर्स डे (New Year's Day) कहते हैं और वह पहिली जनवरी को होता है । फ़ारस देश के पारसियों के यहाँ वह जश्न नौरोज़ के नाम से प्रसिद्ध है और सूर्य के मेष राशि में प्रवेश करने पर मनाया जाता है । अन्य जातियों में जहां इस अवसर पर केवल प्रसन्नता प्रदर्शन और रंगरलियां मनाने की रीति है, वहां धर्म प्राण आर्य जाति में आनन्दानुभव के साथ यज्ञ आदि धर्मानुष्ठानपूर्वक इस उत्सव के मनाने की परिपाटी है । ऊपर हेमाद्रि ग्रन्थ के प्रमाण से बतलाया जा चुका है कि आदि सृष्टि में शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन प्रतिपदा को प्रथम सूर्योदय होने पर संवत्सर का प्रारम्भ हुआ था और सिद्धान्त शिरोमणि का उद्धरण देकर यह भी वर्णन किया गया है कि बसन्त ऋतु, शुक्ल पक्ष, मास, वर्ष तथा युगादि की प्रवृत्ति उसी समय एक साथ हुई थी । इससे ज्ञात होता है कि उस समय चैत्र सुदि प्रतिपदा और सौर मेष संक्रान्ति एक साथ ही पड़ी थी, किन्तु पीछे से सौर और चान्द्र वर्षों की दो प्रकार की वर्षगणना संसार में प्रचलित होने पर सौर और चान्द्र संवत्सरों का नवसंवत्सरारम्भ भी पृथक २ तिथियों पर होने लगा । चान्द्र

संवत्सरारम्भ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को और सौर संवत्सरारम्भ मेष संक्रान्ति के दिन होता है। यतः ऋतुओं की गणना सौर वर्ष के अनुसार ही होती है, इसलिए भूमण्डल कीं अधिकांश सभ्य जातियों में सौर लंवत्सर प्रचलित है। भारतवर्ष के भी अधिकाँश प्रान्तों मे सौर वर्ष का ही व्यवहार है। बंगाल प्रान्त में बंगाब्द, दक्षिण में शालिवाहन शक और पञ्जाब में प्रविष्टा सौर वर्ष गणना पर ही चलते हैं। अतएव आर्य्य जाति में जहां चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को चान्द्र संवत्सरेष्टि वा चान्द्र नवसंवत्सरारम्भ का समारोह होता है, वहां मेष संक्रान्ति के दिन सौर संवत्सरेष्टि भी की जाती है। अतएव जिन प्रान्तों में सौर संवत् प्रचलित हो, वहां मेष संक्रान्ति के दिन और जिन प्रान्तों में चान्द्र संवत्सर का व्यवहार होता हो, वहां चैत्र सुदि प्रतिपदा को नवसंवत्सरारम्भोत्सव वा संवत्सरेष्टि पर्व मनाना चाहिए। उसका कार्यक्रम निम्नलिखित है।

पद्धति

गृह्यकृत्य—प्रातः सामान्य पर्व पद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन, शोधन, लेपनादि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधानपूर्वक, सपरिवार सामान्य होम करके निम्नलिखित संवत्सर वर्णन परक मंत्रों से विशेष अधिक आहुतियां दी जायें।

(१) संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳ संवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्या एत्यै सञ्चाञ्च प्र च सारय सुपर्णचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद॥ यजुर्वेद अध्याय २७ मन्त्र ४५॥

(२) यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाꣳ संवत्सराय पर्य्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं

वत्सराय विजर्जराथं संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धथं साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ यजु० अ० ३० । मन्त्र १५ ॥

(३) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ४८ ॥

(४) सप्त युञ्जन्ति रथमेकं चक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा । त्रिनामा चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः । ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० २ ॥

(५) द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य । आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥

(६) पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षलर आहुरर्पितम् ॥

(७) पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥

(८) सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति । सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ११, १२, १३, १४ ॥

(९) संवत्सरस्य प्रतिमाँ याँ त्वां रात्र्युपास्महे, सा न आयुष्मती प्रजा रायस्पोषेण संसृजः ॥ अथर्व० ३ । ९ । १ ॥

(१०) यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः, संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः । अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्ते नौदनेनातितराणि मृत्युम् ॥ अथर्व० ४ । ३५ । ४ ॥

मध्याह्न में स्वसामर्थ्यानुसार सात्विक और रोचक पाक सम्पन्न करके सब परिवार प्रीतिपूर्वक एकत्र मिलकर भोजन करे तथा अपने आश्रित सेवक आदिकों को भी उससे सत्कृत किया जाय ।

सामाजिक कृत्य—अपराह्न में स्व-सुभीते के अनुसार सब आर्य-सामाजिक पुरुष किसी प्रशस्त विस्तृतक्षेत्र में एकत्र होकर सभा करें और उसमें संवत्सर विषयक—संवत्सरों के प्रकार, मान और उनके प्रवेशेतिहास तथा संशोधन आदि विषयों पर निबन्धपाठ और व्याख्यानों द्वारा विचार करें (योग्य कृतविद्य आर्य सदस्य इस अवसर के लिए विशेष निबन्धरचना और नवीन प्रस्तावों के लिए प्रोत्साहित किए जा सकते हैं) तत्पश्चात् इस अवसर पर धावनस्पर्धा आदि (दौड़ भाग से सम्बन्ध रखने वाली) क्रीड़ाओं का जो ऋतु की दृष्टि से मनुष्यों के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए आवश्यक हैं, प्रयोग और साम्मुख्य किया जाय।

नवीन-संवत्सर

(१)

स्वागत नूतन वर्ष ! समयद्रुम की नव शाखा ! ।
स्वागत वर्ष नवीन ! जगतजन की अभिलाषा ! ॥
स्वागत दर्शन-योग्य मान्य नूतन अभ्यागत ! ।
स्वागत प्यारे व्यक्ति ! अनोखे स्वागत ! स्वागत ! ॥

(२)

स्वागत शतत्रय साठ पञ्च-दिन-गौरव-गर्वित ! ।
पञ्चाशत्—युत—युग्म – भव्य—सप्ताह—सुगर्भित ! ॥
स्वागत द्वादश-मास-छटा से आने वाले ! ।
स्वागत षट ऋतु-मयी महाछवि लाने वाले ! ॥

(३)

स्वागत उत्तर-काल सिन्धु के बिन्दु अदर्शित ! ।
स्वागत अलख विशाल-गणित के अंक अनंकित ! ॥
स्वागत परम भविष्य-चन्द्र की कला शोभना ! ।
स्वागत अश्रुत महाराग की एक मूर्च्छना ! ॥

(४)

स्वागत काल-विशाल-कोश के रत्नजाल चमकीले ! ।
भूप विक्रमादित्य सुयश के नित्य-रूप दरसीले ॥
प्रकृति-विकृति के अचिर-चित्र-गत अविदित रंग रंगीले ! ।
लुप्त-सार-संसार-काव्य के गुप्त-प्रसङ्ग रसीले ! ॥

(५)

स्वस्ति अनन्त-समय-कुसुमाकर अन्तर्गत नव क्यारी ! ।
स्वागत सर्ग-महासागर की नव तरंग सुखकारी ! ॥
स्वागत मञ्जु भविष्य-महल के द्वार मनुज-मनभावन ! ।
अघटित-घटना मय अभिनय के स्वागत दृश्य सुहावन ! ॥

(६)

माया ने जो काल देश का "ताना बाना" ताना,
बुना जगत् पट, अमित बने फिर बूटे-नाना-नाना ।
नाम-स्वरूप-क्रियात्मक वह सब पू ं-प्रियात्मक जाना,
तुमको भी इक वर्ण उसी में है उत्कर्ण दिखाना ॥

(७)

विमल-सत्व-गुण-मयी, चैत में, चारु चन्द्रिका छाना,
प्रभु-अनुराग-पलाश-प्रभा से कलि-कालिमा मिटाना ।
त्रिगुण-बोध की त्रिविध पवन से चित की ताप हटाना,
जान प्रपन्न,, कृषीबल-गृह सम्पन्न अन्न से करना ॥

(८)

माधव में श्री कृष्णचन्द्र के वचन समझ अनुरागी,
धर्मभोग अरु कर्मयोग के जाने मर्मसुभागी ।

* श्रीकृष्ण का नाम भी माधव है अतः माधव (वैशाख) में माधव (श्रीकृष्ण) के वचन समझने की श्लिष्ट उक्ति ध्वनित होती है ।

मलिन-हृदय-वैशाख-नन्दनों को घूरे दिखलाना,
देश-प्रताप-दिनेश सुभग का दिन दिन तेज बढ़ाना ॥

(९)

जेठ मध्य विपरीत-पवन जब तन की तपन बढ़ावै,
फ़ौवारे तू शान्ति- सलिल के शीतल सुखद छुड़ावै ।
अमलतास की पीली पीली सरस प्रभा दरसावै,
गर्मी में भी भरतखण्ड पै रङ्ग बसन्ती छावै ॥

(१०)

जब आवै आसाढ़, आस की घनी घटायें लाना,
दबे हुए दुर्भिक्ष बीज को बिजली से झुलसाना ।
दुर्मतिमय विद्रोह दलों को गरज गरज डरवाना,
पावस-सुख-विज्ञप्ति-दुन्दुभी श्रद्धा-जनक बजाना ॥

(११)

बगले देश भक्त सावन में जभी वृथा झख मारें,
लोग समक्ष पाखण्ड सफ़ेदी पर न चित्त को वारें ।
सदुपदेश के मोर पपीहे पूरा आदर पावें,
सत्य-परस्पर-प्रेम-वृष्टि से प्रजा भूप सुख पावें ॥

(१२)

भादों में 'अति दुःख' कंस के जीवन-खण्डनकारी,
'परमानन्द'—कृष्ण जग जन्मे सकल अमङ्गलहारी ।
सङ्गम यमुना-तीर-मञ्जु सत्सङ्ग-कुञ्ज मन भावै,
ज्ञान-प्रसङ्ग मधुर बंशी-धुन सुन सुन श्रुति सुख पावै ॥

(१३)

क्वार करावे राजभक्त-वर राजहंस-गण-दर्शन,
अभिलाषा के खिलें कमल वन हो मन-मधुप-प्रहर्षण ।

भीष्म पितामह आदि पूर्वजों का हो सम्यक् तर्पण,
हो उनका अनुकरण, धर्महित हो धन-जीवन अर्पण ॥

(१४)

कार्तिक में हो लक्ष्मी-पूजन, भारत-उन्नतिशाली,
दीपावली सुप्रतिभा वाली जगै सजै दीवाली ।
उठे जुआ चोरी दुनिया से कुटिल नीतिवालों की,
होती हार रहे तीसौ दिन कपट-प्रीतिवालों की ॥

(१५)

मार्गशीर्ष में निर्धन जन पर करुणा पूरी करना,
विपुल वस्त्र-सम्पन्न उन्हें कर, भीति शीत की हरना ।
भरत-खण्ड-दुर्दैव-कोप को करना ऐसा शीतल,
हो न कभी सन्तप्त यहां की सन्त-प्रशस्य महीतल ॥

(१६)

पूस मास में देशहितैषी ऐसी धूम मचावें,
क्रिसमिस के सप्ताह विदित में परमोत्साह दिखावें ।
पोलिटिकल, धार्मिक, औद्योगिक नैतिक, विविध सभाएँ,
रचें महावार्षिक अधिवेशन, पूर्ण सफलता पाएँ ॥

(१७)

माघ-मास में सुजन-भाव के सुजन समञ्जुल फूलें,
चञ्चल-चित्त-हिंडोल मनोहर-मूर्ति श्यामवर झूलें ।
वेदधारिणी सरस्वती को पूजा जग की भावे,
सत्य, सनातन, संस्कृत विद्या, सदा समुन्नति पावे ॥

(१८)

फाल्गुन में नर-सिंह-भक्त का गुण सच्चा रङ्ग लावे,
हरिजन त्रासक के कुनाम पर दुनिया धूल उड़ावे ।

भीड़ें रंगे हुए स्यारों की फूहड़ शोर न छावें,
पूरण देश रङ्ग में भीगे जग की छटा बढ़ावें ॥

(१९)

सत्कवियों का मान बढ़ाना सद्भक्तों का आदर,
देश-अहितकर अकवि निकर को देना घोर निरादर ।
सत्य, सुमति, सम्पत्ति, सौम्यता, सदुद्योग सुखकारी,
मिलें पूर्णविधि प्रिय भारत को विनती यही हमारी ॥

(कविवर राय देवीप्रसाद बी० ए० पूर्णकृत)

आर्यसमाज का स्थापना-दिवस

चैत्र सुदी ५

आनन्द सुधासार दयाकर पिला गया।
भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया॥
डाला सुधार वारि बढ़ी बेल मेल की।
देखो समाज-फूल फबीले खिला गया॥

(महाकवि 'शङ्कर' कृत)

विक्रम की १९ वीं शताब्दी के वृद्ध भारत में वैदिकधर्म, भारतीय सभ्यता और समाज की अभूतपूर्व, कल्पनातीत तथा विलक्षण अवस्था हो गई थी। एक ओर शुद्ध, सनातन, सरल वैदिक धर्म की पवित्र मन्दाकिनी सैकड़ों युगों के असंख्य समय में प्रवाहित रहकर कपोल-कल्पित, नाना, नवीन मतों के आडम्बरों से उसी प्रकार कलुषित बन गई थी, जिस प्रकार गङ्गोत्री से चली हुई भागीरथी की पुण्यसलिला, विशुद्ध धारा विस्तृत विविध भूभागों में भ्रमण करके और मलिन जलवाली अनेक नदियों से मिलकर गङ्गासागर में गदली और गर्हित हो गई है। सनातन वैदिकधर्म के ज्ञान, कर्म और उपासना के तीनों काण्डों का स्थान, मिथ्या-विश्वास, तान्त्रिक जादू-टोने और जड़पूजा ने ले लिया था, परम-तत्वविवेचन के स्थान में मिथ्याविश्वासमूलक विविध मतवाद मनुष्यों के विचारों पर अधिकार पा गए थे। मनुष्य वैदिक-कर्मकाण्ड के सारभूत पञ्चमहायज्ञों को त्यागकर मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण की सिद्धि में अपने अमूल्य समय को बिताने लगे थे। सर्वव्यापक परमपिता की उपासना से

विमुख बनकर कपोलकल्पित आधुनिक देवी-देवताओं की पूजा में तत्पर थे। देवस्थान भङ्ग, चरस आदि मादक द्रव्यों से उन्मत्त, दुराचारी, निरक्षरभट्टाचार्य पुजारियों (पूजा के शत्रुओं) से भरे रहते थे। जनता आचार्य आदि सच्चे तीर्थों को भूलकर जल-स्थल आदि को ही तीर्थ मान बैठी थी। वैदिक वर्णव्यवस्था बिल्कुल लुप्त हो गई थी। उसके स्थान में जन्ममात्र के गर्वित, गुणकर्म से रहित पुरुषाधम ब्राह्मणादि वर्ण के अभिमानी बन गए थे। ब्रह्मचारी और संन्यासी नाममात्र को शेष रह गए थे, परन्तु उनका वेश धारण करके लाखों विद्याशून्य, अकर्मण्य, बकवृत्ति और बिडालवृत्ति बने हुए वञ्चकजन इस वसुन्धरा के भार को बढ़ा रहे थे और श्रद्धालु प्रजा को दिन-दहाड़े लूट रहे थे। सच्चे योगियों का स्वरूप तो योगशास्त्र में ही रह गया था, किन्तु उनके नाम को लेकर भिक्षा से ही पापी पेट को भरने वाले जोगियों की एक पृथक् जाति (समुदाय) ही बन गई थी। सर्वसम्मान्य आचार्य पदवी मृतकों का माल उड़ाने वाले 'आचारजों' को मिल गई थी। अन्ततः प्रायः सारे के सारे वैदिक और आर्ष-प्रयोगों और नामों का यथार्थ स्वरूप और प्रयोजन उलट-पुलट गया था। सनातन वैदिक धर्म का कलेवर ही बदल गया था। श्रुतियों का नाम ही सुनाई देता था, उनका स्वरूप लुप्तप्राय हो गया था। जनता में यहां तक मूर्खता फैल गई थी कि वे अन्य देवताओं के समान वेदों को भी कोई देहधारी देवता समझने लगे थे। उनकी मूर्तियों तक की कल्पना हो गई थी। वेदों के प्रमाणों के स्थान में अनेक आधुनिक ग्रन्थ और संस्कृत के श्लोक और वाक्य मात्र तक प्रमाण माने जाने लगे थे। धर्म कुछ रूढ़ियों (रस्म-रिवाज़ों) का ही नाम रह गया था वा यूँ कहिए कि सर्वत्र रूढ़ियों का ही राज्य था।

दूसरी ओर योरप से उठी हुई पाश्चात्य-सभ्यता की प्रबल पछवा आंधी प्राचीन तथा पूर्वीय सभ्यता का सब कुछ उड़ा ले जाकर उसको तितर-बितर कर देने की धमकी दे रही थी। "यथा राजा तथा प्रजा" की

कहावत के अनुसार पराजित भारतीय प्रजा अपने गौरांग प्रभुओं का रहन-सहन और उठने-बैठने तक की नक़ल करने में अपना गौरव समझती थी। वह उनकी वेश, भूषा, आहार के अनुकरण से ही सन्तुष्ट न थी, प्रत्युत प्रत्येक विषय में उनकी विचार-परम्परा का भी पीछा करती थी। सहस्रों ग्रन्थों से संस्थापित और संसिद्ध सत्य भी पाश्चात्य विद्वानों के प्रमाणों के बिना सिद्धान्त नहीं माने जाते थे। भूगोल, खगोल, रसायन तथा पदार्थविज्ञान आदि सारी विद्याओं तथा संगीत, शिल्प, स्थापत्य, चित्रण आदि समस्त कलाओं के आविष्कर्ता भी पाश्चात्य पुरुष ही समझे जाते थे। पाश्चात्य सभ्यता के ही प्रकाश में समस्त विषयों का अवलोकन किया जाता था। उनके ही हेतुवाद वा तर्कशैली से धर्माधर्म की भी परीक्षा की जाती थी। शिखा, सूत्र, आचमन, मार्जन आदि सारे धर्मकृत्य क्यों? और कैसे? की कसौटी पर कसे जाते थे। सारे धर्म कर्मों का निदान वा मूल ऐहिक वा सांसारिक सुख ही माना जाता था।

जहाँ एक ओर 'अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनूः' इस नाममात्र के ब्राह्मणों के वाक्य पर श्रद्धा रखने वाले, रूढ़ियों के परम उपासक, पुराने आचार-विचार के लोग किसी भी संस्कृत के ग्रन्थ वा वाक्य को प्रत्येक प्रचलित कुप्रथा और मूर्खता का पोषक पुष्ट प्रमाण मानते थे, वहाँ पाश्चात्य शिक्षा से दीक्षित और आलोकित नवयुवक तर्क-रहित ब्रह्मवाक्य को भी सुनने के लिए तैयार न थे। परिणामतः नव-शिक्षित नई पौध के लोग निरीश्वरवादी, संदेहवादी वा भोगवादी बनकर प्राचीनसभ्यता और सनातन धर्म से बिल्कुल विमुख हो रहे थे। वे अपने पूर्व पुरुषों को वृद्ध-मूर्ख (Old fool) कहकर हंसते थे।

उच्चजात्याभिमानी हिन्दू लोगों में कुछ तो धन-कलत्र के लोभ से और कुछ पुराणग्रन्थों की असंबद्ध कथाओं तथा हिन्दू रूढ़ियों की कठोरता से उद्विग्न होकर ईसाई आदि विधर्मी बनते जाते थे। नीच जातों के जन उच्चमन्य हिन्दुओं के तिरस्कार, अत्याचार और अमानुषिक व्यवहार से

मर्माहत होकर ईसाई पादरियों के प्रभाव में आकर दिनोंदिन हिन्दू-समुदाय का कलेवर क्षीण और ईसाई मत का शरीर पीन बना रहे थे और प्रातःस्मरणीय श्री राम और कृष्ण की निन्दा से निज जिह्वा को अपवित्र करते थे।

दूसरी ओर बहुत से हिन्दू नित्यप्रति मुसलमानों के फन्दे में फंसते थे। देववाणी वा आर्यभाषा (हिन्दी) का पठन पाठन प्रायः पुरोहितों का ही काम रह गया था। अन्य व्यवसायी वा कारबारी लोग महामहिमामय मौलवियों की पदचर्या और फ़ारसी भाषा की आराधना को ही अपना अहोभाग्य और गौरववर्धक समझते थे। उस समय जालसाज़ी की जड़ और सर्पाकार फ़ारसी लिपि से अनभिज्ञ जनों को सभ्यता की परिधि से बाहर समझा जाता था और सर्वगुणआगरी देवनागरी की "हिन्दगी" कह कर निन्दा की जाती थी। मौलवियों के अहर्निश के सहवास से फ़ारसी पढ़े हुए कई पुरुष तो खुल्लमखुल्ला मुसलमानी मत में दीक्षित हो जाते थे और शेष सारे के सारे आचार विचारों से मुसलमान अवश्य बन जाते थे इसीलिये "फ़ारसी पढ़ा आधा मुसलमान" की कहावत प्रचलित हो गई थी। उन दिनों वैदिकधर्म का विकृत रूप 'हिन्दूमत' ऐसा कच्चा धागा बन रहा था कि उसको जो चाहता था एक झटके से तोड़ सकता था। वह ईसाई वा मुसलमान के छुए हुए जलमात्र के पान से सदा के लिये विदा हो जाता था और इसलिये हिन्दूसमुदाय ईसाई मुसलमानों के लिए सुलभ भोजन वा स्वादु ग्रास (तर लुक़मा) बन रहा था। फलतः गो और ब्राह्मण के रक्षकों के समूह का प्रतिदिन ह्रास हो रहा था तथा गोभक्षकों और वेदनिन्दकों का समुदाय बढ़ रहा था।

इस प्रकार नित्यप्रति क्षीणकलेवरा आर्य-जाति मृत्यु के मुख में जा रही थी। प्राचीन आर्यसभ्यता पग-पग पर पराभव पाकर अपने प्राचीन वैभव और महिमा को खो रही थी। जो आर्य-जाति और वैदिकधर्म ८०० वर्ष तक के मुसलमानी अत्याचार पूरित शासन और तलवार के

बल से नष्ट न हो सका था, वह अब पाश्चात्यों के सम्मोहनास्त्र से महा-निद्रा में निमग्न होने को उद्यत था। परन्तु सब सभ्यताओं की आदि-जननी आर्यसभ्यता और सब धर्मों के आदिस्रोत वैदिकधर्म की उस प्रकार पशुतुल्य मृत्यु करुणा-वरुणालय परमपिता को अभिमत न थी। इसलिए उस दयामय ने अपनी असीम दया से निज नित्यव्यवस्थानुसार इस धर्म-सङ्कट के समय धर्म की रक्षा के लिए दयामूर्ति और आनन्दराशि ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव भव्य भारत में किया।

ऋषि दयानन्द की उज्ज्वल जीवनी की पुण्यगाथा एक पृथक् विषय है। यहां उसका वर्णन प्रकरणान्तर होगा। किस प्रकार ऋषि दयानन्द ने सब कुछ त्याग कर—सत्यसंन्यासी बनकर—पूर्णतः सत्य विद्याओं के अभ्यास और भारत के कोने २ में परिभ्रमण के पश्चात् इस देश की पतित अवस्था का निरीक्षण किया और उससे द्रवीभूत होकर वैदिकधर्म के पुनरुद्धार्थ और संसारमात्र के परोपकारार्थ आर्यसमाज की स्थापना की। ये बातें वेद के नामलेवा प्रायः सभी पुरुषों को विदित हैं। इस समय उसी आर्यसमाज की स्थापना का विषय प्रस्तुत है।

ऋषि दयानन्द ने गुरुगवेषणा और अतुल अन्वेषणा के पश्चात् जिन सनातन वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की स्थापना की थी, उनके लगातार प्रचार के लिए उन्होंने बहुत से श्रद्धालु धार्मिक पुरुषों की सहायता तथा राज्यमान्य राजा श्रीपाताचन्द्र आनन्दजी की आयोजना के अनुसार भारत की प्रसिद्ध समृद्धिशालिनी समुद्रतीरवर्तिनी मुंबापुरी (बम्बई) गिरगांव में डा० मानिकचन्दजी की वाटिका चैत्र सुदी पञ्चमी सम्वत् १९३१ विक्र-मीय, १७८७ शालिवाहन शक, शनिवार, तदनुसार १० एप्रिल सन् १८७५ ई० को प्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। उसके २८ नियम सर्वसम्मति से निर्धारित किए गए। इन्हीं नियमों में ऋषि दयानन्द की आत्मा का प्रतिबिम्ब और आर्यसमाज का उद्देश्य वर्तमान था। आगे चलकर लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के समय इन्हीं २८ नियमों को

संक्षिप्त करके संप्रति प्रचलित आर्यसमाज के निम्नलिखित १० नियमों का रूप दिया गया। बम्बई आर्यसमाज के नियमों की संख्या के अधिक होने का यह कारण था कि उनमें आर्यसमाज के कार्यनिर्वाहक उपनियम भी सम्मिलित थे। लाहौर में उपनियमों को पृथक् करके मूलसिद्धान्त रूप नियमों को ही मुख्य दश नियमों के रूप में प्रचलित किया गया।

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है ॥

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसकी उपासना करनी योग्य है ॥

३—वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है ॥

४—सत्यग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ॥

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें ॥

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ॥

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये ॥

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ॥

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ॥

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ॥

यहां आर्यसमाज के दश नियमों की व्याख्या के लिए स्थान नहीं है, पर इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि आर्यसमाज की स्थापना ऐसे सर्वव्यापक और सर्वहितैषी नियमों पर हुई थी कि संसार के सब राष्ट्रों और जातियों के निवासी उन पर चल कर सर्वदा अपनी उन्नति कर सकते हैं। आर्यसमाज का संगठन भी दीर्घदर्शितापूर्वक ऐसी प्रजासत्ताक परिपाटी पर किया गया है कि उस से प्रत्येक राष्ट्र में, सब प्रकार की शासन-प्रणालियों में सर्वोत्तम और सर्वसुखदायक प्रजासत्ताक शासन का विकास और अभ्यास (Training) पूर्णरूप से हो सकता है। आर्यसमाज के संगठन में उस के संस्थापक महर्षि ने अपनी व्यक्ति तक के लिए कोई विशेष स्थान वा पद नहीं रक्खा था, वे अपने आप को भी आर्यसमाज का एक 'साधारण सदस्य' समझते थे। एक बार लाहौर आर्यसमाज ने जब उनसे एक अधिवेशन का प्रधान पद स्वीकार करने की प्रार्थना की थी, तो उन्हों ने यही उत्तर दिया था कि आप की समाज का प्रधान विद्यमान ही है, वही अपना कर्तव्य पालन करे, एक साधारण सदस्य के रूप में मैं भी आप के कार्य में योग दे सकता हूँ। आर्यसमाज ने भारत में प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली के प्रचार में बहुत कुछ सहायता प्रदान की है। उसने भारत के अन्य संप्रदाओं और मतों को भी संगठित हो कर काम करने की रीति सिखलाई है। और यहां के कई संप्रदाय सङ्गठन में अब आर्यसमाज से भी आगे जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। महर्षि दयानन्द के कई लेखों के देखने से ज्ञात होता है कि उन्हों ने आर्यसमाज से संसार के उपकार और देशदेशान्तरों में वैदिक धर्म के प्रचार की बड़ी बड़ी आशाएं बाँधी थीं। उन्हों ने अपनी कोई गद्दी आदि न बना कर आर्यसमाज को ही अपना उत्तराधिकारी माना था, और उनके उद्देश्य के साफल्य की सारी आशाएँ आर्यसमाज में ही केंद्रित थीं। महर्षि के स्वनामधन्य सच्चे अनुयायी इन आशाओं की पूर्ति के ए प्राणप्रण से पूरा प्रयत्न कर रहे हैं।

आर्यसमाज से जो आशाएं की गई थीं उन का कुछ दिग्दर्शन और आभास अमरीका के एक दार्शनिक डाक्टर एंड्रयू जैकसन डेविस Dr. Andrew Jackson Davis की निम्न लिखित कवितामय मनोहर पंक्तियों से भले प्रकार हो सकता है:—

Dr. Andrew Jackson Davis' views of the Arya Samaj and Its Founder.

"I behold a fire, that is universal,—the fire of infinite love, which burneth to destroy all hate, which dissolveth all things to their purification. Over the fair fields of America,—over the great land of Africa,—over the ever-lasting mountains of Asia,—over the wide empires and kingdoms of Europe, I behold the kindling flames of the all-consuming, all-purifying, fire! It speaketh at first in all the lowest places; it is kindled by man for his own comfort and progress; for man is the only earthly creature that can originate and perpetuate a fire; even as he is the only being on earth that can originate and perpetuate words, so he is the first to start the fires of hell in his own habitations, and the first, also to eke and obtain from heaven the Promethean fire whereby Plutonian abodes will be purified by love and whitened with wisdom.

Beholding this infinite fire,—which is certain

to meet the kingdoms and empires and Governmental evils of the whole earth, I rejoice exceedingly, and I take hold of life with an enkindling enthusiasm. All loftiest mountains will begin to burn, the beautiful cities of the valleys will be consumed; sweet homes and loving hearts will dissolve together; and the good and the evil will interfuse and disappear like dewdrops vanishing in the sun's golden horns.

The spirit of man is on fire with the lightning of infinite progression Only the sparks thereof ascend to-day into the heavens. Lambent flames here and there appear in the inspirations of orators, poets, writers of scriptures. To restore primitive Aryan religion to its first pure state was the fire in the furnace called "Arya Samaj," which started and burned brightly in the bosom of that Inspired Son of God in India, Dayanand Saraswati. From him the fire of inspiration was transferred to many noble inflaming souls in the land of Eastern Dreams ....Hindoos and Moslems ran together to extinguish the consuming fire, which was flaming on all sides with a fierceness that was never dreamed of by the first kindler, Dayanand.

And Christians, too, whose altar fires and sacred candles were originally lighted in the dreamy East, joined Moslem and Hindoo in their efforts to extinguish the New Light of Asia. But the heavenly fire increased and propogated itself................"

डाक्टर एन्डयू जैक्सन डेविस के उद्गार का अनुवाद।

"मैं एक ऐसी अग्नि देखता हूँ, जो सर्वव्यापक है, वह अप्रमेय प्रेम की अग्नि है, जो सर्वविद्वेष को भस्मसात करने के लिये प्रज्वलित हो रही है और सर्ववस्तु जात को पवित्र बनाने के लिये पिघला रही है। अमरीका के प्रशस्त क्षेत्रों, अफ़रीका के बड़े स्थलों, एशिया के शाश्वतिक पर्वतों, योरुप के विशाल राज्यों और राष्ट्रों में सर्वनाशन सर्वपावन, इस पावक की प्रज्वलित ज्वालायें मुझे दिखाई दे रही हैं। प्रथम, इस अग्नि की ध्वनि निम्नतम स्थानों में सुनाई देती है; मनुष्य उस को अपने सुख और उन्नति के लिये प्रकाशित करता है, क्योंकि केवल मनुष्य ही ऐसा पार्थिव प्राणी है, जो अग्नि को प्रज्वलित कर के उसी प्रकार स्थिर रख सकता है, जैसा कि केवल वह ही (मनुष्य ही) ध्वनि या शब्दों को जन्म देकर स्थिर रख सकता है। इस लिए मनुष्य ही अपने गृहों में सब से प्रथम नारकीय अग्नियों को प्रज्वलित करता है (द्वेषों को भड़काता है) और वही सर्वप्रथम स्वर्ग से प्रोमीथस * की उस अग्नि को प्राप्त करने वाला और बढ़ा कर रखने वाला है, जिस से कि पातालीय (नारकीय) अन्धकार-पूर्ण गृह प्रेम से पवित्र और मेधा से प्रकाशित हो सकते हैं।

* प्रोमीथस यूनानियों का एक देवता था, जिसने उनके विश्वासानुसार सर्व प्रथम स्वर्ग से अग्नि को चुरा कर मनुष्य को प्रदान किया और उसको उसका प्रयोग सिखलाया था।

इस अनन्त अग्नि को, जो कि निश्चय रूप से संसार भर के राज्यों, साम्राज्यों और शासन सम्बन्धी दोषों का सामना करेगी (पिघला डालेगी) देख कर मैं अतीव हर्षित हो रहा हूं और जाज्वल्यमान उत्साह के साथ जीवन धारण कर रहा हूँ। सब उच्चतम पर्वत जल उठेंगे, । उपत्यका के सारे सुन्दर नगर नष्ट हो जायेंगे। मनोहर गृह और प्रेमप्लुत हृदय पिघल कर एक हो जायेंगे और सूर्य की उज्ज्वल किरणों के सामने ओस के बिन्दुओं के समान पुण्य और पाप सम्मिश्रित एक होकर अन्तर्धान हो जायंगे।

अनन्त उन्नति की विद्युत् से मनुष्य का हृदय विक्षुब्ध है। आज केवल उसके स्फुलिङ्ग (चिनगारियां) आकाश की ओर उड़ रहे हैं। वाग्मियों, कवियों और पवित्रपुस्तक प्रणेताओं के मनोभावों के रूप में उसकी लपकती हुई ज्वालाएँ यत्रतत्र दृष्टिगोचर हो रही हैं। सनातन आर्यधर्म को उसकी आद्य पवित्र अवस्था को प्राप्त करने के लिए आर्य-समाज नामक अग्निकुण्ड में इस अग्नि का आधान हुआ था और वह भारत में ईश्वर के प्रकाश प्राप्त (लब्धज्योति) पुत्र दयानन्द सरस्वती के हृदय में प्रादुर्भूत और प्रज्वलित हुई थी। ईश्वरीय ज्ञान की यह अग्नि उससे (दयानन्द से) पौरस्त्य विचारों की भूमि (भारतवर्ष) की बहुत सी उच्च और उज्ज्वल आत्माओं को प्राप्त हुई........यह सर्वनाशक अग्नि सब ओर ऐसी प्रचण्डता से प्रज्वलित थी कि जिसका ध्यान उसके प्रथम प्रकाशक दयानन्द को भी न आया था। हिन्दू और मुसल्मान मिलकर इस अग्नि को बुझाने दौड़े और वे ईसाई भी, जिनकी वेदियों की अग्नियां और पवित्र बत्तियां प्रारम्भ में भावुक (ध्यानी) पूर्व (एशिया) में ही प्रकाशित हुई थीं, एशिया के इस नए प्रकाश को बुझाने के प्रयत्न में हिन्दू और मुसलमानों के साथ मिल गए—सम्मिलित हो गए, किन्तु यह स्वर्गीय अग्नि बढ़ती ओर फैलती ही गई ....।"

क्या आर्यसमाज के वर्तमान सदस्य उपर्युक्त आशाओं का विचार

करके अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को अनुभव करने की कृपा करेंगे। क्या उनको कभी यह भी ध्यान आएगा कि आगे चलकर इतिहास उनके कार्यों की कैसी आलोचना करेगा। "आत्मदा बलदा" परमपिता हमको बल प्रदान करे कि हम महर्षि दयानन्द के सच्चे अनुयायी सिद्ध हों।

पद्धति

गृह्यकृत्य—प्रातः सामान्य पर्वपद्धति में पूर्व-प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन, शोधन, लेपनादि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशी वस्त्र परिधान पूर्वक सपरिवार सामान्य होम करके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष अधिक आहुतियां देवें—

(१) सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
अथर्व० ६। १४। १॥

(२) सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥
अथर्व० ६। ७४। १॥

(३) ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गुवदन्तएत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥
अथर्व० ३। ३० ५॥

(४) समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥
अथर्व० ३। ३०। ६॥

(५) सध्रीचीनान्वः समनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवाऽमृतंरक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥
अथर्व० ३। ३०। ७॥

(६) सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रतास्थन तान्वः सं नमयामसि ॥
अथर्व० ६ । ९४ । १ ॥

(७) समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभि मंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
ऋ० १० । १९१ । ३ ॥

(८) समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

(९) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
ऋ० ३ । ६२ । १० ॥

(१०) दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्,
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा
समीक्षामहे । यजु० ३६ । १८ ॥

मध्यान्ह में स्वसामर्थ्यानुसार सात्विक और रोचक पाचक सम्पन्न करके सब सपरिवार प्रीतिपूर्वक एकत्र मिलकर भोजन करें तथा अपने आश्रित सेवक आदिकों को भी उससे सत्कृत करें ।

सामाजिक कृत्य—प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में सब आर्यसामाजिक पुरुष मिलकर नगर में सङ्कीर्तन करें, जिसमें परमपिता की महिमा और आर्य-समाज के गुणों का गान मधुर स्वर में किया जाय । उसके पश्चात् समाज मन्दिर में वापिस आकर सार्वजनिक होमयज्ञ किया जाय, जिसमें उपर्युक्त विहित तथा शिवसङ्कल्प के समान मन्त्रों से विशेष आहुतियां दी जाँय ।

अपराह्न वा सायङ्काल में स्वसुभीते के अनुसार सब आर्य बन्धु जन समाज मन्दिर आदि में एकत्र होकर सभा करें । उसमें आर्यसमाज स्थापना दिवस की स्मृति में आर्यसमाज की स्थापना के इतिहास, आर्य

समाज की उपयोगिता तथा संगठन की महिमा पर निबन्ध पाठ और भाषण किए जांय । इसी अवसर पर गत वर्ष के आर्य सामाजिक कार्यों का सिंहावलोकन किया जाय और आगामी वर्ष के लिए भावी कार्यक्रम की पांडुलिपि भी बनाई जाय और अपनी समाज में सदस्य वृद्धि का प्रयत्न किया जाय । तदनन्तर मधुर गान वाद्य और शान्ति पाठ के साथ सभा विसर्जित की जाय ।

आज के दिन ही आसपास के ग्रामों आदि में, जहां कहीं सम्भव हो, नूतन आर्यसमाजस्थापना का उद्योग भी किया जाय ।

आर्यसमाज का अभ्युदय

(लावनी)

इसके बल का किसने कैसा फल पाया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥टेक॥
सब साधु बने परमेश्वर के अनुरागी,
जड़ता तम की जननी जड़-पूजा त्यागी ।
बढ़ गई मेल की बेल एकता जागी,
फट गया फूट का पेट अविद्या भागी ।
उपजा विवेक मिट गई मोह की माया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥ १ ॥
निर्दोष अर्थ वेदों के जान, जनाये,
मन्तव्य महापुरुषों के मान, मनाये ।
खोले गुरुकुल, कालेज अनेक बनाये,
कुलहीन।दीन अगणित अनाथ अपनाये ।
प्रतिनिधि-मण्डल का मान भलों को भाया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥ २ ॥

शिशु ब्रह्मचर्य-व्रत धार वेद पढ़ते हैं,
ज्ञानी बन बन, गौरव-गिरि पर चढ़ते हैं।
बल दैहिक आत्मिक सामाजिक बढ़ते हैं,
शिक्षा—सागर से देव—रत्न कढ़ते हैं।
लो पलट गई प्रतिकूल काल की काया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥ ३ ॥
गुण, कर्म, स्वभावों से परखे जाते हैं,
नर नारि यथाविधि वर्ण वरण पाते हैं।
वेदों की शरण अब वैधर्मी आते हैं,
वे भी अवगुण तज आरज कहलाते हैं।
वैदिक मत ने कब किसे न कण्ठ लगाया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥ ४ ॥
फल खातेह लाखों पल खाने वाले,
पय पीते हैं वारुणी उड़ाने वाले।
बन गये जती चकलों में जाने वाले,
छूटे छल—बल से पांप कमाने वाले।
शुभ सदाचार का शंख निशंक बजाया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥ ५ ॥
सब नियमों का जो एक नित्य नेता है,
वह निराकार अवतार कहाँ लेता है।
मुरदा खाने पीने को कब चेता है,
कल्पित भूतों का दल क्या फल देता है।
यों पोल खोल पौराणिक—दम्भ दबाया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाया ॥ ६ ॥
चढ़ वेदों ने सब ग्रन्थ जगत के जीते,
यज्ञों की अवनति के निशि—वासर बीते।

देखो नर नारि सुकर्म-सुधा-रस पीते,
हो गये सुकवि 'शङ्कर' के मन के चीते।
सुख देती है मुनि दयानन्द की दाया,
समझो समाज ने क्या क्या कर दिखलाता ॥ ७ ॥

(कवि शिरोमणि पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा)
('शङ्कर सरोज' से)

आर्यसमाज के दश नियम ॥

(ख़याल)

(१) सकल सत्य विद्या, विद्या से जो कुछ जाना जाता है,
आदि मूल सब ही का 'शंकर, एक समझ में आता है ॥टेक॥

(२) सर्व-शक्ति-संपन्न-विधाता ब्रह्म विश्व का करता है।
शुद्ध-सच्चिदानन्द निरायम नित्य निशंक न मरता है ॥
सकल, अनन्त, अनादि, अजन्मा, भौतिक-देह न धरता है।
न्यायशील सर्वज्ञ दयानिधि जड़ जीवों का भरता है।
धरो उसी का ध्यान दूसरा कौन मुक्ति का दाता है ॥
आदिमूल सब ही का 'शंकर' एक समझ में आता है ॥ १ ॥

(३) जो विद्यानिधि वेदों को तुम प्यारे पढ़ो पढ़ाओगे।
सुनो सुनाओगे तो अपने तीनों ताप नसाओगे ॥

(४) धारौ सत्य असत्य विसारौ तब चारों फल पाओगे।

(५) झूठ सांच को जांच धर्म के धाम काम कर जाओगे ॥
तो न रहेगा उनमें जिनका पंच-भूत से नाता है।
आदि मूल सबही का 'शंकर' एक समझ में आता है ॥ २ ॥

(६) तुम सामाजिक अरु देहात्मिक उन्नति अनुदिन किया करो।
मान मुख्य उद्देश षडंगी का सबको सुख दिया करो ॥

(७) यथा योग्य वरतो सब से प्रतिवार प्रेम यश किया करो ।
(८) आठो धाम अविद्या को तज विद्या का रस पिया करो ॥
(९) सब की उन्नति में निज उन्नति की नवनिधि नर पाता है ।
आदि मूल सब ही का 'शंकर' एक समझ में आता है ॥ ३ ॥

(१०) सब के हितकारी नियमों के पालन में परतंत्र रहो ।
नीति रीति सीखो समाज की गुरुलोगों की गैल गहो ॥
हितकारी नियमों के पालन का आनन्द स्वतन्त्र लहो ।
वैदिक मत के सारभूत यों दश नियमों का भाव कहो ॥
श्रीमद्दयानन्द स्वामी के उपदेशों का खाता है ।
आदि मूल सब ही का 'शंकर' एक समझ में आता है ॥ ४ ॥

(कविशिरोमणि पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा)
('शंकर सरोज' से)

श्री रामनवमी

वा

श्री रामजयन्ती

चैत्र सुदि नवमी

जय यय मर्यादापुरुषोत्तम धर्म-धुरन्धर ।
जय जय एकादर्श भूमिपति महावीर वर ॥
नासन म्लेच्छाचार दलन दल प्रबल निशाचर ।
करन यथोचित प्रजाप्रचारन दुरन दुःख उर ॥
(पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत)

भारतीय इतिवृत्त के इस निशाकाल के तिमिरावृत नभोमण्डल में कई ऐसी ज्योतियाँ जगमगा रही हैं, जो इस संसार मरुस्थली के मार्गभ्रष्ट पथिकों को पथप्रदर्शन करके अपनी जीवन यात्रा को पूरी करने में सहायता देती रहती हैं, परन्तु उनमें इक्ष्वाकु-कुल-कुमुद-चन्द्र श्री रामचन्द्र का सर्वोत्कृष्ट-समुज्ज्वल प्रकाश ही इस कड़ी मंज़िल को अन्त तक पहुंचाने या पूरी करने में पूरा सहायक और सब से बढ़कर पथप्रदर्शक है । यूँ तो इन चमकती हुई ताराओं की संख्या संख्यातीत है, पर उनमें सर्वनयनाभिराम श्री रामचन्द्र का प्रकृष्ट प्रकाश ही सर्वातिशायी और सर्वव्यापी है । यदि इस घनघोर अँधियारी रात्रि में जगद्वन्द्य श्री राम के आदर्श-जीवन की जाज्वल्यमान शीतल किरणावली का प्रकाश प्रसार न पाता,

तो भारतीय यात्री का कहीं ठिकाना न था। इस सूचिभेद्य अन्धकार में उसको न जाने कहाँ से कहाँ भटकना पड़ता।

इस समय भारत के श्रृङ्खलाबद्ध इतिहास की अप्राप्यता में यदि भारतीय अपना मस्तक समुन्नत जातियों के समक्ष ऊँचा उठाकर चल सकते हैं, तो महात्मा राम के आदर्श-चरित की विद्यमानता में। यदि प्राचीनतम ऐतिहासिक जाति होने का गौरव उनको प्राप्त है, तो वह सूर्य्य-कुल-कमल-दिवाकर राम की अनुकरणीय पावनी जीवनी की प्रस्तुति से। यदि भारताभिजनों को धार्मिक, सत्यवक्ता, सत्यसन्ध, सभ्य और दृढ़व्रत होने का अभिमान है, तो प्राचीन भारत के धर्मप्राण तथा गौरवसर्वस्व श्रीराम के पवित्र चरित्र की विराजमानता से।

यदि पूर्णपरिश्रम से संसार के समस्त स्मरणीय जनों की जीवनियां एकत्रित की जांय, तो हमको उनमें से किसी एक जीवनी में वह सर्वगुण-राशि एकत्र न मिल सकेगी, जिससे सर्वगुणागार श्रीराम का जीवन भरपूर है। आज हमारे पास भगवान् रामचन्द्र का ही एक ऐसा आदर्श चरित्र उपस्थित है जो अन्य महात्माओं के बचे बचाये उपलब्ध चरित्रों से सर्वश्रेष्ठ और सब से बढ़कर शिक्षाप्रद है। वस्तुतः श्रीराम का जीवन सर्व-मर्यादाओं का ऐसा उत्तम आदर्श है कि मर्यादापुरुषोत्तम की उपाधि केवल उनके लिए ही रूढ़ हो गई है। जब किसी को सुराज का उदाहरण देना होता है तो "रामराज्य" का प्रयोग किया जाता है।

केवल लोकमर्यादा की अक्षुण्ण स्थिति बनी रखने के लिए निष्काम कर्म करते रहने के वैदिक धर्म के सिद्धान्त का पूर्णरूप से पालन करके प्रातःस्मरणीय श्री रामचन्द्र ने ही दिखलाया था।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

(वाल्मीकिरामायण)

अर्थ—"राज्याभिषेकार्थ बुलाए हुए और वन के लिए विदा किए

हुए रामचन्द्र के मुख के आकार में मैंने कुछ भी अन्तर नहीं देखा" आदि-कवि श्री वाल्मीकि का यह शब्द-चित्र निष्काम कर्मवीर श्री रामचन्द्रजी का ही यथार्थ चित्र था।

स्वकुलदीपक, मातृमोदवर्धक तथा पितृनिदेशपालक पुत्र, एकपत्नीव्रत-निरत, प्राणप्रियाभार्यासखा, सुहृद्दुःखविमोचक मित्र, लोकसंग्राहक, प्रजापालक नरेश, सन्तानवत्सलपिता और संसार मर्यादाव्यवस्थापक, परोपकारक, पुरुषरत्न का एकत्र एकीकृत सन्निवेश, सूर्यवंशप्रभाकर, कौशल्योल्लासकारक, दशरथानन्दवर्धन, जानकीजीवन, सुग्रीवसुहृद्, अखिलार्य-निषेवितपादपद्म, साकेताधीश्वर, महाराजाधिराज, भगवान् रामचन्द्र में ही पाया जाता है।

दक्षिणापथ के सुदूरवर्ती, अविद्यान्धकारपूर्ण महाकान्तार में वैदिक आर्यसभ्यता का प्रकाश प्राधान्येन सर्वप्रथम लोकदिग्विजयी श्री राम ने ही पहुंचाया था। यद्यपि इससे पूर्व अगस्त्य ऋषि ने वैदिक सभ्यता के आलोक को दक्षिण में फैलाने का यत्न किया था परन्तु उसको उससे पूर्ण आलोकित सूर्यकुलरवि राम ने ही किया था। महाराज रामचन्द्र के दक्षिण-विजय से पूर्व विन्ध्याचल पार का महाकान्तार इन्द्रियलोलुप, अनेक कदाचारदत्तचित्त, नररक्त-पिपासु राक्षसों का लीलानिकेतन बना हुआ था, उसमें सर्वत्र उन्हींका एकाधिपत्य वर्तमान था वा यत्र-तत्र (कहीं-कहीं) वानरवंश के एक दो छोटे राज्य विद्यमान थे। इन्हीं वानरों का एक राज्य पम्पापुरी (वर्तमान मैसूर राज्य में उत्तरीय पेनर नदी के उद्गम स्थान पर चन्द्रदुर्ग पर्वत के निकट) में वानरराज बालि की अध्यक्षता में स्थित था। परन्तु उसके राज परिवार में धर्म पराङ्मुखता के कारण धन कलत्र को लक्ष्य करके गृहकलह मचा हुआ था और उसके फलस्वरूप वानरराज बालि का कनिष्ठ भ्राता सुग्रीव अपने मित्र महावीर हनुमान् के साथ अपने ज्येष्ठ भ्राता से भयभीत होकर ऋष्यमूक (वर्तमान मैसूर राज्य में उत्तरीय पेनर नदी का उद्गम स्थान चन्द्रदुर्ग पर्वत) पर जा छिपा था।

इन्हीं वानरों और राक्षसों को वाल्मीकिरामायण के अन्तिम आधुनिक संस्करण में अलौकिक योनि राक्षस, कपि तथा ऋक्ष (रीछ) बतलाया गया है और उनके आकारों को असाधारण और भयङ्कर चित्रित किया गया है पर वस्तुतः ये सब जातियाँ वर्तमान मद्रास प्रान्त निवासियों के पूर्वज द्रविड़वंशीय थे।

श्री रामचन्द्र ने पितृ आज्ञा को शिर धर कर, अयोध्या के महा-साम्राज्य को त्यागकर और इसी महाकान्तार के दण्डकारण्य में निर्वासित होकर अपने प्रेम और सदुपदेश से उक्त वानर जाति को अपना मित्र बनाया और सुग्रीव से सौहार्द की स्थापना करके उसके धनकलत्रापहारी भ्राता बालि को मार कर उसका राज्य सुग्रीव को दिया तथा अत्याचारी राक्षसों के दमन के लिए महावीर हनुमान के सेनापतित्व में उन्हीं वानरों की अपनी सङ्गठन शक्ति से प्रबल और सुशिक्षित सेना सन्नद्ध की। उसी सेना की सहायता से लङ्काद्वीप के अतुल बलशाली तथा महा-पराक्रमी राक्षसजाति के साम्राज्य का उसके अधीश्वर प्रबलप्रतापी अना-चारी रावण सहित विध्वंस किया। किन्तु श्री रामचन्द्र सदृश आर्य दिग्विजेता का विजय साम्राज्यविस्तार वा संपत्तिसञ्चयार्थ नहीं था। उन्होंने विजित प्रदेश में धर्म की विजय-वैजयन्ती उड़ाकर, भूतपूर्व लङ्के-श्वर रावण के स्थान में उसके अनुज, धर्मपरायण विभीषण को ही प्रजा-पालनार्थ अभिषिक्त कर दिया। इस प्रकार दक्षिणापथ में आर्यसभ्यता का प्रसार करके अपनी वनवास यात्रा की अवधि पूर्ण होने पर श्रीराम-चन्द्र अपनी पैतृक राजधानी अयोध्या में लौट आए और स्वपितृपरम्परा-साकेत राज्य के सिंहासन पर अभिषिक्त होकर यावज्जीवन नृपति धर्म का पालन करते रहे।

इस क्षुद्र निबन्ध में पुण्यश्लोक, विश्वविश्रुतकीर्ति, लोकाभिराम श्रीराम की पुण्यगाथा कहाँ तक वर्णन की जा सकती है। काव्य उनके यशोगान से भरे पड़े हैं। भारतीय कवियों ने अपनी उच्च कल्पना का पूर्ण

परिचय देकर शब्दचित्र के जितने मनोरम और सुन्दर स्वरूप बनाए हैं, देववाणी के सिद्धसारस्वतों ने अपनी प्रखर प्रतिभा का जितना चमत्कार दिखलाया है, उनमें से अधिकांश में राम के पथप्रदर्शक पावनचरित्र का वर्णन पाया जाता है। भाषा-कवियों की भी जिह्वा उनका यश वर्णन करने से नहीं थकती। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास अपने रामचरित-मानस में रामचरित्र का प्रवाह बहाकर अपने को अमर बना गए हैं। बङ्गभाषा की कृत्तवासा रामायण में भी रामचरित्र बङ्गदेश के कुटीर और प्रासादों में गाया जाता है।

हमारे लिए इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है कि हम ऐसे मर्यादापुरुषोत्तम आदर्शचरित्र की सन्तान हैं। उन्हीं पवित्र नाम राम के जन्मदिन की शुभतिथि चैत्र सुदि नवमी है। हमारे पूर्वजों ने हम पर एक यह भी बड़ा उपकार किया है कि इस लोकाभ्युदयकारक जन्म की तिथि इस चैत्र शुक्ला नवमी को हम तक अविच्छिन्न रूप से पहुंचा दिया है। परन्तु आज कल अज्ञानान्धकार में निमग्न आर्यसन्तान रामनवमी प्रभृति जन्मोत्सवों को लाभप्रद रीति से नहीं मनाते और उनके वास्तविक उद्देश्यों को भूलकर अनशन आदि वृथा रूढ़ियों में फँस गए हैं। शिक्षा से आलोकित हृदय सुधारकों और वैदिकधर्मावलम्बी आर्य महाशयों का कर्तव्य है कि लुप्तप्राय-विशुद्ध-वीरपूजा की प्रथा का पुनरुद्धार करें और अपने आदर्श महापुरुषों की जन्मतिथियों और स्मारकों को शिक्षाप्रद प्रकारों से मनाएँ तथा सर्वसाधारण के लिए पथप्रदर्शक बनें। आज के दिन मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के चरित्र के अध्ययन वा स्वाध्याय के लिए रामायण की कथा और सङ्कीर्तन की प्रथा को पुनः प्रचारित करना चाहिए। यज्ञ और दान का शुभानुष्ठान होना चाहिए और अपने पूर्व-पुरुषों के पदचिन्हों पर चलते हुए धर्म के तीनों स्कंध यज्ञ, अध्ययन और दान के विशेष आचरण में ही ऐसे शुभदिनों को बिताना चाहिए, जिससे कि हम अपनी उन्नति करते हुए अन्यों के उद्धार के हेतु बन सकें।

पद्धति

गृह्यकृत्य—प्रातः सामान्यपर्वपद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन, शोधन, लेपनादि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधान पूर्वक सपरिवार सामान्य हवन होना चाहिए। मध्यान्ह में स्वसामर्थ्यानुसार सात्त्विक और रोचक पाक सम्पन्न कर के सपरिवार प्रीतिपूर्वक एकत्र मिलकर भोजन करें तथा अपने आश्रित सेवकों आदि को भी उससे सत्कृत करें।

सामाजिक कृत्य—अपरान्ह वा सायङ्काल से स्वसुभीतानुसार सब आर्यसामाजिक पुरुष समाज मन्दिर आदि में एकत्र होकर सभा करें। उसमें प्रथम वेदमन्त्रों द्वारा परमेश्वर-प्रार्थना के पश्चात् श्री रामचन्द्र के इतिहास और गुणावली पर निबन्ध और कविता पाठ तथा भाषण होने चाहिएँ। तदनन्तर उसी विषय पर मधुर गानवाद्य और वैदिक शान्तिपाठ के पश्चात् सभा विसर्जित की जाय।

तदनन्तर किसी प्रशस्त क्षेत्र (मैदान आदि) में एकत्र होकर शरीर बलवर्धक व्यायामों का प्रदर्शन किया जाय। इसी अवसर पर भीलनी, शवरी के प्रीतिपूर्वक सम्मान स्वीकार का आदर्श दिखलाने वाले, पतितपावन दलितोद्धारक राम के अनुकरण में दलितवर्गों (हरिजनों) से सामाजिक संसर्ग बढ़ाया जाय। उनके साथ मिलकर मिष्टान्न वा फलभोज किया जाय।

श्रीराम-गुण-गान

सत्पुरुष-पुङ्गव, सत्यवादी, संयमी श्रीराम थे।
प्रतिभा-निदान, पराक्रमी, धृति शील, सद्गुणधाम थे।
परम—प्रतापी, प्रजारञ्जन, शत्रुविजयी वीर थे।
ज्ञानी सदाचारी, सुधी, धर्मज्ञ, दानी धीर थे॥

कल्याणकर उनके सभी शुभलक्षणों को धार लो।
पढ़ मित्र पूर्ण-पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो ॥ १ ॥
श्रुति-तत्त्व-वेत्ता, सत्यसंध, कृतज्ञ, गौरववान थे।
संसार के हित में सदा तत्पर, महाविद्वान् थे ॥
निस्पृह, प्रजाप्रिय, नयनिपुण, अभिराम, अवगुणहीन थे।
आदर्श आर्य, उदार, करुणासिन्धु, शुचि, शालीन थे ॥
वे सदा सर्वप्रकार से हैं पूजनीय विचार लो।
पढ़ मित्र पूर्ण-पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो ॥ २ ॥
श्रीराम ने जो कर दिखाया धर्म के विश्वास में।
ऐसा न अन्य उदाहरण है जगत के इतिहास में ॥
दृढ़ हो उन्हीं के पुण्य-पथ पर चाहिए चलना हमें।
हम आर्य हिन्दू-मात्र रामचरित्र-कानन में रमें ॥
होगा इसी से देश का कल्याण, सम्मति-सार लो।
पढ़ मित्र पूर्ण-पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो ॥ ३ ॥
उस सद्गुणी की जीवनी को लक्ष्य अपना मान लें।
आओ, सखे ! सत्कर्म का संकल्प मन में ठान लें ॥
श्रद्धा-सहित हम उस महात्मा का निरन्तर नाम लें।
इस लोक से उद्धार पाकर स्वर्ग में विश्राम लें ॥
भ्रम त्याग "रामनरेश" उर में शक्ति-रश्मि पसार लो।
पढ़ मित्र पूर्ण-पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो ॥ ४ ॥

(कविवर श्री रामनरेश त्रिपाठी)

हरितृतीया (हरियाली तीजो)

श्रावण सुदि तृतीया

स्वागत ! सावन के मनभावन पावस शुभ तेरी फेरी ।
बहुत दिवस के बाद दुहाई जग में आज फिरी तेरी ॥
निरख आगमन तेरा नभ में, सब आनन्द मनाते हैं ।
टोल बांध गाते मलार सब, डफली ढोल बजाते हैं ॥
जाय जहां लों दृष्टी मेरी तेरी छटा दिखाती है ।
सुन्दर दृश्य और हरियाली वरबस मुझे लुभाती है ॥
प्रकृति नये रंगों में रंग कर स्वागत ही के हेत ।
विविध भांति के पुष्पों से सजती सब दिशा सचेत ॥

(श्री दिनेश्वरप्रसादसिंह कृत)

भव्य भारत की षड्ऋतुओं में जीवन बरसा कर चराचर में जीवन का संचार करने वाली वर्षाऋतु की महिमा और शोभा अपरम्पार है । स्थलचर, जलचर तथा नभचर सभी प्राणियों का जीवन जल पर निर्भर है, इसलिये संस्कृत में जल को जीवन कहते हैं । वर्षाऋतु से पूर्व संसार ग्रीष्म के उत्ताप से विह्वल और उद्विग्न हो रहा था । वर्षा ऋतु का शुभागमन होते ही प्रकृति का दृश्य ही बदल गया, गगनमंडल बादलों के दल से घिर गया, शीतल पूर्वीय पवन देह को प्रफुल्लित करने लगी, चारों ओर उद्भिजों ने मही माता के पेट से प्रकट होकर उसके उपरितल को हरित पट से आच्छादित कर दिया, उसके ऊपर जहां तहां बिखरी हुई बीर-

बहूटियों के लाल लाल बिन्दुओं ने उसकी कुछ और ही छटा बना दी, प्राणिमात्र प्रमुदित दिखलाई देने लगे, परन्तु वर्षा को पूर्ण यौवन श्रावण में चढ़ता है, सावन की झड़ी प्रसिद्ध है, कभी कभी तो ऐसी झड़ी लगती है कि दिन की रात हो जाती है। दिवाकर देव के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। बड़ी नदियों की तो कौन कहे काकपेया कुसरिता तक इतरा इतरा कर अपने आपे से बाहर होकर उमड़ पड़ती हैं। जिधर देखो उधर हरियाली ही हरियाली नेत्रों का सत्कार करती है, तभी तो यह कहावत बन गई है कि "सावन के अन्धे को हरा ही हरा सूझता है।" नभोमण्डल में जिधर देखिए मेघरूपी मतवाले गज गरजते फिरते हैं—आसमान पर चढ़ कर सभी को अभिमान हो जाता है। दादुर-ध्वनि और मयूरों की केका दसों दिशाओं को मुखरित कर देती है। सुखद, मन्द, सुगन्ध समीर चारों ओर घूम घूम कर हर्ष का सन्देश देने लगता है। प्रकृति में आनन्द ही आनन्द का एकाधिपत्य व्याप जाता है। ऐसे समय में सौन्दर्योपासक, रम्यनिर्माण-शाली स्रष्टा की रम्य रचना के गुणगायक सहृदय भारतवासी भला कैसे उदासीन रह सकते हैं, उन्होंने भी प्रकृति के मधुर स्वर में अपना स्वर मिलाने के लिये मनभावन, शोकनसावन सावन के मध्य में एक उत्सव रच डाला। वैसे भी मनुष्य उत्सवप्रिय प्रसिद्ध ही है। यूँ तो भारत में मनुष्यमात्र आबालवृद्ध वनिता सभी वर्षा का आनन्द मनाते हैं। कृषि-प्रधान भारत के किसान श्रावणीशस्य (सावनी की फ़सल) की बुवाई से निवृत्त होकर आनन्द से अन्न देने वाली वर्षा ऋतु के गुणों के मलहार गाते हैं। श्रद्धालु धार्मिक लोग इस मास में ज्ञान-चर्चा और हरिकथा में रत रहते हैं। मल्ल लोग अपनी मल्लकला के करतबों का विशेष अभ्यास भी इसी मास में करते हैं। सर्वत्र जल-वर्षा के साथ मानोप्रमोद को भी वर्षा होती रहती है। परन्तु प्रमोद की अधिष्ठात्री प्रमदाजाति ही मानी जाती है, ललित कलाओं में सर्वोपरि संगीत कला की भी वही प्रतिनिधि है, उसी के स्वाभाविक कलकण्ठ से संगीत की देवी स्ववाणी को सुन्दर

स्वर में व्यक्त कर सकती है। स्त्री-जाति भावुकता की मूर्ति है, पुरुषों में विचार-शक्ति (Thinking faculty) और स्त्रियों में भाव-शक्ति (Emotional powers) बलवती होती है। स्त्री पर भावना वा अनुभूति का प्रभाव अतिशीघ्र और अतिशय होता है। वर्षा ऋतु का आनन्द भी उनको विशेष रूप से प्रभावित करता है। इसलिये वर्षा ऋतु का उत्सव विशेषतः स्त्रीजाति का उत्सव माना जाता है। स्त्री-जाति में श्रावणी सुदि तृतीया को हरित्तृतीया वा हरियाली तीजों का पर्व मनाने की परिपाटी प्राचीन काल से भारत के सब प्रान्तों में प्रचलित है। पुरन्ध्री और कुमारी कुल देवियां उस दिन घर घर स्वादुपक्वान्न बना कर उसका वायनक (बायना) अपनी बड़ी बूढ़ियों को भेंट करती हैं और सायंकाल को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर स्वसहेलियों के साथ झूला झूलती हुई मधुर राग गाती हैं और वर्षा ऋतु का आनन्द लूटती हैं। इतने कृत्य में कोई भी अनौचित्य, अशालीनता वा अशास्त्रीयता नहीं है पर जब से भारतीय ललनाकुल में अविद्यापिशाची का प्रवेश हुआ है तब से उनमें तीजों के अवसर पर कुल मर्यादा और शील के उल्लंघनकारी शृङ्गार के गन्दे गीतों के गाने की जघन्य कुप्रथा चल पड़ी है। व्रजमण्डल में स्त्री पुरुष दोनों इस पर्व पर अश्लील कजलियां गाते हैं। यद्यपि गृहस्थ दम्पतियों के लिए शुद्ध शृङ्गार और पवित्र प्रेम के सुरुचिसंचारक गायन निन्दनीय नहीं हैं, परन्तु सदाचारविनाशक, कुरुचिकारक गन्दे गीत सर्वथा वर्ज्य और त्याज्य हैं। सर्व सुधारों के संस्थापक और सनातनीय संस्थाओं के उपादेय अंश के व्यवस्थापक, धर्म और राष्ट्रीयता के पुनरुद्धारक आर्य समाज का परम कर्तव्य है कि जहां वह भारत की प्राचीन सभ्यता के सूचक परम्परागत पुण्य पर्वों के प्रचार की रक्षा करे वहां उनमें के अयुक्त और हेयांश को पृथक् करके उनके सुधरे हुए स्वरूप का संचार आर्यपरिवारों में करे। इस विषय में प्रसिद्ध कवि हाली का निम्नलिखित पद्य हमारा पथप्रदर्शक होना चाहिए:—

धोने की है, ऐ रिफ़ार्मर, जा बाक़ी,
कपड़े पै है, जब तलक कि धब्बा बाक़ी।
धो शौक़ से कपड़े को पै इतना न रगड़,
धब्बा रहे कपड़े पै, न कपड़ा बाक़ी॥

इस पर्व के मनाने की पद्धति का कुछ वर्णन तो ऊपर हो ही चुका है। आर्य परिवारों में उसका यह प्रकार होना चाहिए कि प्रातः सामान्यपर्व-पद्धति में उल्लिखित विधानानुसार प्रत्येक परिवार में गृहमार्जन, लेपन के अनन्तर सामान्य होम होना चाहिए। मध्याह्न में प्राचीन प्रथानुसार स्वादु पक्वान्न बना कर उनके वायनक (बायने) बड़ी बूढ़ियों को भेंट किये जांय। इससे वृद्धापूजा के प्रचार की परिपुष्टि, विनयभाव की दृढ़ता और छोटियों के प्रति बड़ी-बूढ़ियों के स्नेह की वृद्धि होती है। सायंकाल को सब सखी सहेलियां मिल कर संगीत और झूला झूलने का आनन्द उठायें। किन्तु हरिगुणगायन, वर्षा की प्राकृतिक शोभा वर्णन और पवित्र प्रेम के सुन्दर गीत ही इस आनन्दोत्सव पर गाने चाहियें। आर्य-कवियों का परम कर्तव्य है कि वे ऐसे अवसरों के लिये सुन्दर राग रागिणियां और कविताओं का प्रणयन करें, तभी प्रचलित गन्दे गीतों का वर्जन होकर सुधार हो सकता है।

पावस-प्रमोद

जय जग-जीवन जलद नवल कुलहा उलहावन।
विश्व वाटिका विमल वेलि वन वारि बहावन॥ १॥
जीवन दे वन वनस्पति में जीवन लावन।
गुरु ग्रीषमपन-दरपदलन मन मोद मनावन॥ २॥
जय मनभावन विपति नसावन सुखसरसावन।
मानव को जग ठेलि केलि जल चहुं बरसावन॥ ३॥

बांधि मण्डलाकार पुरन्दर को धनु पावन ।
लरजि दिग्वावन गरजि तरजि मनभय उपजावन ॥ ४ ॥
सनकावन गन पवन ज्योति जुगनू चमकावन ।
ठनकावन घन समघन दामिनी-द्युति दमकावन ॥ ५ ॥
तापन सतत सतावन कृपकन जीय जुरावन ।
अनुलित जोम जतावन गुवजन हीय चुरावन ॥ ६ ॥
झरलावन बुदबुदा उठावन भुवि लरजावन ।
अगनित अमित अनूप कीट-कुल-बल सरसावन ॥ ७ ॥
चेतन और अचेतन सब के हिय लहरावन ।
जयति पुलकि पग धारि पीर हरि धीर धरावन ॥ ८ ॥
ठौर ठौर बग-पांति सोहनी सरन सजावन ।
वीर बहूटी विपुल गोल गुलगुली भजावन ॥ ९ ॥
छावन दादुर-दल द्रुम-दल पल पल खरकावन ।
विथित वियोगिनी सोगिनी हिय पिय बिन धरकावन ॥ १० ॥
शोक-समूह भुलावन छय छिति-छटा गुहावन ।
बादर-बलहिं बुलायन, पावस परम सुहावन ॥ ११ ॥
अद्भुत आभावन्त अङ्ग अति अमल अखण्डत ।
घुमड़ि घुमड़ि घन घनो घूम घिरि घोर घमण्डत ॥ १२ ॥
कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत ।
सुख सरसावत हिय हरसावत जल बरसावत ॥ १३ ॥
मेह थमत चुहकार चहचही करत चाव चित ।
फरफराय निज परन फिरत पंछीगन प्रमुदित ॥ १४ ॥
धोये धोये पात तरुन के हरसावत सन ।
नेक झकोरत डार झरत अगनित अम्बु कन ॥ १५ ॥
घन बूंदन सन सजल थलन, बुदबुद गन ।
रेख वर्तुलाकार बनति तिनके चहुं ओरन ॥ १६ ॥

बढ़ि-बढ़ि अपने आप नसति जल में ताकी गति ।
जिमि निर्धन हिय आस उठति बढ़ि बढ़ि पुनि विनसति ॥ १७ ॥
सुखद सुरीलो गामन में ललितागन गामन ।
भरि उछाह घर सो तिन आमन झूलन जामन ॥ १८ ॥
पवन उड़त उर के पट को झटपटहिं सम्हारन ।
मंजुल लोल कलोलनि बोलनि विविध मल्हारन ॥ १९ ॥
एक एक को पकरि बुलावन कर गहि लावन ।
जोराबरी चलावन झूला झमकि झुलावन ॥ २० ॥
मधुर मिसि मिसी सों मचकी दै जाहि झुलावन ।
"राखो मोरी सोंह मरी" कहि तास रखावन ॥ २१ ॥
झरत द्रुमन सों सुमन सौरभित डारिन हलि हलि ।
मनहुं देत बनथली तोहि स्वागत पुष्पाञ्जलि ॥ २२ ॥
सजल सफल अति सरल सकल सुर नर मुनि मोहति ।
कलित ललित तृन हरित सङ्कुलित वसुधा सोहति ॥ २३ ॥
खगचर भूचर जलचर तृण तरु सब के गातन ।
उठति अमन्द तरंग हृदय आनन्द समात न ॥ २४ ॥

(स्वर्गीय श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' कृत)

श्रावणी उपाकर्म
ऋषितर्पण
श्रावण सुदि पूर्णिमा

वैदिक धर्म में स्वाध्याय की सर्वोपरि प्रधानता और महिमा बार-बार वर्णन की गई है। उस पर यहां तक बल दिया गया है कि वह तारतम्य से प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिये अनिवार्य और आवश्यकरूप से विहित है। चारों वर्णों में प्रथम वर्ण ब्राह्मण का स्वाध्याय (अध्ययनाध्यापन) ही मुख्य कर्तव्य है, उसी के कारण ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ माना गया है। और उसको चातुर्वर्ण्य-देह वा विराट् पुरुष का सर्वश्रेष्ठ अंग 'मुख' कहा गया है। क्षत्रिय और वैश्य की भी द्विजन्मा संज्ञा स्वाध्याय से ही होती है।

आश्रमों में भी प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य की सृष्टि केवल स्वाध्याय के लिये ही हुई है। ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर समावर्तन के समय स्नातक को आचार्य 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' का उपदेश देता है, जिसका स्पष्ट प्रयोजन यही है कि आगे चल कर गृहस्थाश्रम में भी स्वाध्याय करते रहो और उसमें कभी प्रमाद मत करो। गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थ वा वनी का भी प्रधान कर्म स्वाध्याय और तप ही रह जाता है। संन्यासी का भी समय परमतत्वचिन्तन और उपदेश के अंगीभूत स्वाध्याय में ही व्यतीत होता है। संन्यासी के लिये आज्ञा है— "संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकन्न संन्यसेत्" अर्थात् संन्यासी सब कर्मों

को त्याग देवे केवल वेद को न त्यागे। स्वाध्याय को इतना महत्व देने का उद्देश्य यही है कि जिस प्रकार शरीर की स्थिति और उन्नति अन्न से होती है उसी प्रकार सारे शरीर के राजा मन का भी उत्कर्ष और शिक्षण स्वाध्याय से ही होता है और यतः मानसिक उन्नति के बिना आत्मिक उन्नति भी नहीं हो सकती, इसलिए स्वाध्याय आत्मिक उन्नति का भी प्रधान साधन है। मानसिक और आत्मिक उन्नति के बिना केवल शारीरिक उन्नति मनुष्य को मनुष्यता (मननशीलता) से गिरा कर पशुत्व, पिशाचत्व और राक्षसत्व की ओर ले जाती है। अतएव स्वाध्याय मनुष्य के लिए अन्नाहार के समान ही आवश्यक और अनिवार्य है। स्वाध्याय के सातत्य से ही मानुप-मानस-मुकुर ऐसा स्वच्छ और पारदर्शी बन जाता है कि उस में परम पुरुष की अनादि सरस्वती का साक्षात्कार उस को होने लगता है, इसी को मंत्रदर्शन भी कहते हैं। मंत्रदर्शन से ही मनुष्य ऋषि बन जाते हैं वा मंत्र-द्रष्टा ही ऋषि कहलाते हैं। "ऋषयो मंत्रद्रष्टारः" यह निरुक्तकार महामुनि यास्क का वचन प्रसिद्ध ही है।

जो वस्तु जिसको प्रिय होती है, उसी से उसकी पूजा और तृप्ति वा तर्पण होता है। ऊपर ऋषियों और स्वाध्याय का अभेद्य वा समवाय-सम्बन्ध दिखलाया जा चुका है, इसलिए ऋषियों की अर्चा, तृप्ति वा तर्पण स्वाध्याय से बढ़ कर और किसी वस्तु से नहीं हो सकती। जहाँ धर्मशास्त्र में प्रतिदिन साधारण स्वाध्याय द्वारा ऋषियों के साधारण तर्पण की आज्ञा है—इस विषय में मनुस्मृति के निम्नलिखित पद्य प्रमाण रूप से उद्धृत किये जाते हैं—

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन्, होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैः, भूतानि बलिकर्मणा॥

मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ८१॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि॥

मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ७५॥

अर्थ—स्वाध्याय से ऋषियों की, होम से देवों की, श्रद्धा से पितरों की, अन्न से नरों (अतिथियों) की और बलिकर्म (अन्न-प्रदान) से (क्षुद्र) प्राणियों की यथाविधि पूजा करे। स्वाध्याय और दैवकर्म में नित्य तत्पर रहे। वहाँ विशेष समयों वा अवसरों पर विशेष स्वाध्याय द्वारा विशेष ऋषितर्पण का विधान है, क्योंकि वेदधर्मानुयायियों के यहां नित्य और नैमित्तिक कर्मों की शैली सर्वत्र विद्यमान है। इस समय यहाँ नैमित्तिक ऋषितर्पण का ही प्रसङ्ग प्रस्तुत है।

वैदिककाल में वेदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की अविद्यमानता वा विरलता के कारण वेदों और वैदिकसाहित्य के ही पठनपाठन का विशेष प्रचार था। वैसे तो लोग नित्य ही वेदपाठ में रत रहते थे, किन्तु वर्षा ऋतु में वेद के पारायण का विशेष आयोजन किया जाता था। इस का कारण यह था कि भारतवर्ष वर्षाबहुल तथा कृषिप्रधान देश है। यहाँ की जनता आषाढ़ और श्रावण मास में कृषि के कार्यों में विशेषतः व्यस्त रहती है। श्रावणी (सावनी) शस्य की जुताई और बुवाई आषाढ़ से प्रारम्भ होकर श्रावण के अन्त तक समाप्त हो जाती है। इस समय (श्रावणपूर्णिमा पर) ग्रामीण जनता कृषि के कार्यों से निवृत्ति पाकर तथा भावी शस्य के आगमन से आशान्वित हो कर चित्त की शान्ति और अवकाश लाभ करती है। राजन्यवर्ग भी इस समय दिग्विजय यात्रा से विरत हो जाता है, वैश्य भी व्यापार, यात्रा, वाणिज्य और कृषि से विश्राम पाते हैं। इस लिए इस दीर्घ अवकाश काल में विशेष रूप से वेद के पारायण और प्रवचन में जनता प्रवृत्त होती थी। उधर ऋषि, मुनि, संन्यासी और महात्मा लोग भी वर्षा के कारण अरण्य और वनस्थली को छोड़ कर ग्रामों के निकट (Suburb) में आकर रहने लगते थे और वहीं वेदपाठन, धर्मोपदेश और ज्ञानचर्चा में अपना चातुर्मास्य (चौमासा) बिताते थे। श्रद्धालु श्रोता और वेदाध्यायी लोग उनके पास रह कर ज्ञान-श्रवण और वेदपाठ से अपने समय को

सफल बनाते थे और ऋषियों के इस प्रिय कार्य से उनका (ऋषियों का) तर्पण मनाते थे। जिस दिन से इस विशेष वेदपारायण का उपक्रम (प्रारम्भ) किया जाता था उस को उपाकर्म कहते थे। और यह श्रावण सुदि पूर्णिमा वा श्रावण सुदि पञ्चमी को होता था, जैसा कि पारस्कर गृह्यसूत्र के निम्नलिखित सूत्रों में विहित है:—

"अथातोऽध्यायोपाकर्म ॥ १ ॥ ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्याᳬं श्रावणस्य पंचमीᳬं हस्तेन वा ॥ २ ॥

पारस्करगृह्यसूत्र २य काँड। १० मी कण्डिका। १, २ सूत्र।

इस पर श्रीमद् हरिहर का यह भाष्य है—

"अथ पंचमहायज्ञकथनानन्तरं अध्यायस्य अध्ययनस्य उपाकर्म उपाकरणं (आरम्भः) व्याख्यास्यत इति शेष. ओषधीनामपामार्गादीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ सत्यां श्रवणश्र पौर्णमास्या एव विशेषणं तत्र तयोः प्रायशः संभवात् एवं च सति पौर्णमास्या एव प्राधान्यं तस्माद्विशेषणाभावेऽपि पौर्णमास्यां भवति। ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः। श्रावणमासस्य पञ्चमीं हस्तेन युक्तां वा प्राप्य भवति तत्रापि प्रायेण हस्तो भवति अतः श्रावणी पूर्णिमा श्रावणपञ्चमी वा विशिष्टा अविशिष्टा वा उपाकर्मणः कालः।"

ऋषियों का तृप्तिकारक होने के कारण पीछे से उपाकर्म का नाम ऋषितर्पण भी पड़ गया। यह उपाकर्म वा ऋषितर्पण विशेष विधि से होता था, जिसका विवरण गृह्यसूत्रों में दिया हुआ है और जो उक्त पारस्करगृह्यसूत्रानुसार आगे चल कर इस पर्व की पद्धति में सविस्तर लिखा जायगा। इस प्रकार यह विशेष वेदपाठ प्रारम्भ होकर साढ़े चार मास तक नियमपूर्वक बराबर चला जाता था और पौष मास में उसका 'उत्सर्जन' (त्याग वा समापन) होता था। 'उत्सर्जन' भी एक विशेष संस्कार के रूप में किया जाता था। उपाकर्म और उत्सर्जन के विधान विविध

गृह्यसूत्रों में नाना अवान्तर भेदों के साथ वर्णित हैं। याज्ञिक काल में कर्मकाण्ड में बहुत से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-प्रभेद प्रचलित हो गए थे और जनता कर्मकाण्ड के मूल उद्देश्यों को भूल कर इन विविध विधानों की सूक्ष्मता वा जटिलता में ही फँसी रहती थी। उपाकर्म और उत्सर्जन के भी भिन्न २ काल ऋग्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदियों के लिए नियत हो गए थे, जिस से परस्पर भेदों के बढ़ने के अतिरिक्त और कोई लाभ न था। अस्तु।

मनुस्मृति में उपाकर्म और उत्सर्जन का आदेश निम्नलिखित पद्यों मे दिया गया है

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत, मासान विप्रोऽर्धपञ्चमान ॥ ९५ ॥
पुष्ये तु च्छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

मनुस्मृति अध्याय ४ श्लोक ९५,९६

अर्थ—ब्राह्मणादि श्रावणी वा भाद्रपदी पौर्णिमा को उपाकर्म करके साढ़े चार मास में उद्युक्त होकर वेदाध्ययन करें ॥ ९५ ॥ पुष्य नक्षत्र वाली पूर्णिमा (पौषी) में वेद का उत्सर्जन नामक कर्म ग्राम के बाहर जाकर करे। या माघशुक्ल के प्रथम दिन के पूर्वाह्ण में करें ॥ ९६ ॥

कई महानुभावों का यह विचार है कि उपाकर्म और उत्सर्जन ब्रह्मचारियों का कृत्य है। उनके मत में उपाकर्म "विद्यालयों के खुलने का दिन है" और उत्सर्जन गुरुकुलों के सत्रसमाप्ति की तिथि है, किन्तु मनुस्मृति और गृह्यसूत्र उनके इस विचार की पुष्टि नहीं करते हैं। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी के सर्वकृत्यों का वर्णन समाप्त करके तथा तृतीय अध्याय में पाणिग्रहण तथा पञ्चमहायज्ञ का सविस्तार विधान देकर चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ से "कृतदारो गृहे वसेत्" इत्यादि श्लोक से गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों और वृत्तियों का वर्णन

आरम्भ होता है । उसी के अन्तर्गत उपर्युक्त ९५ और ९६ पद्यों में उपाकर्म और उत्सर्जन का विधान है । तब उनको ब्रह्मचारियों का कृत्य कैसे माना जा सकता है । इस के अतिरिक्त पारस्कर गृह्यसूत्र के उपर्युक्त सूत्रों के भाष्य में श्री हरिहर स्पष्ट लिखते हैं—

"तच्चाग्निमतोऽध्यापनप्रवृत्तस्यैव भवति, छन्दांस्युपाकृत्याधीयन्त इति वचनात्, उपाकरणस्य चावसथ्याग्निसाध्यत्वात् निरग्नेर्नाधिकारः ।"

अर्थ—वह (उपाकर्म) अग्नि स्थापित किए हुए और अध्यापन में लगे हुए का ही होता है [उसी का कर्तव्य है] "छन्दांस्युपाकृत्याधीयन्ते" इस वचन से उपाकर्म आवसथ्य नमक अग्नि में ही हो सकता है । उस अग्नि को न स्थापित किए हुए पुरुष को उस का अधिकार नहीं है ।

आवसथ्याधानं दारकाले ॥(पारस्कर गृह्यसूत्र १म काण्ड २य कण्डिका १म सूत्र) इस सूत्र से आवसथ्याग्नि विवाह के समय में ही स्थापित होती है । विवाहकाल के अग्नि में उपाकर्म के करने की आज्ञा से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वह गृहस्थों का ही कर्तव्य है । श्री वैद्य हरिशंकरजी ने भी अपनी 'तेवहारपद्धति' में आगे चल कर स्वीकार किया है कि—

"लोक में प्रचार होने और शास्त्र के अनुसार कर्तव्य देखने से यह विदित होता है कि इस मंगल दिवस का सम्बन्ध गृहस्थियों से भी अवश्य है" ।

युक्तप्रान्तीय भारत धर्म-महामण्डल के प्रस्तावानुसार प्रकाशित 'व्रतोत्सवचन्द्रिका' में भी यही लिखा हैकि—

"जो छात्र ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गार्हस्थ्य में प्रवेश करते थे, वे भी श्रावणी के दिन से नित्य वेदपाठ का प्रारम्भ करके माघ में समाप्त करते थे" ।

गुरुकुलों में भी उपाकर्म और उत्सर्जन होता होगा, किन्तु यह केवल उन्हींका पर्व था ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

चिरकाल के पश्चात् वेद के पठन-पाठन का प्रचार न्यून हो जाने पर साढ़े चार मास तक नित्य वेद-पारायण की परिपाटी उठ गई और जनता प्राचीन उपाकर्म और उत्सर्जन के स्मारक रूप में श्रावण सुदि पूर्णिमा को एक ही दिन उपाकर्म और उत्सर्जन की विधियां को पूरा करने लगी। इस बात की पुष्टि 'धर्मसिन्धु' ग्रन्थ के निम्नलिखित उद्धरण से भले प्रकार होती है—

"उत्सर्जनकालस्तु नेह प्रपञ्च्यते, सर्वशिष्टानामिदानीमुपाकर्म-दिन एवोत्सर्जनकर्मानुष्ठानाचारेण तन्निर्णयस्यानुपयोगात्।

अर्थ—यहां उत्सर्जन काल का निर्णय नहीं किया जाता है, क्योंकि आज कल सब शिष्ट लोग उपाकर्म के दिन उत्सर्जन भी कर लेते हैं। अतः उसके काल का निर्णय करना व्यर्थ है।

ज्ञात होता है कि यह दोनों कृत्य बहुत काल से एक ही दिन होते चले आये हैं। पीछे से जनता उपाकर्म और उत्सर्जन का नाम भी भूल गई और इस पर्व का नाम केवल ऋषितर्पण और श्रावणी ही प्रसिद्ध हो गया। पहिले लोग उस दिन वेद के कुछ सूक्तों का पाठ कर लेते थे और उसी समय वर्षा ऋतु के विकृत जलवायु के संशोधनार्थ बृहद् हवन यज्ञ भी होता था। उसी अवसर पर सब अपने नवीन यज्ञोपवीत भी बदलते थे और सम्भव है कि ऋषितर्पण यज्ञ में सम्मिलित होने के चिह्नस्वरूप से याजक और यजमानों के दाहिने हाथ में रक्षासूत्र (राखी) भी बांधे जाते हों और वर्तमान काल में श्रावणी के दिन रक्षा-बन्धन (राखी बांधने का) यही स्रोत हो। किन्तु इसका प्रमाण भविष्योत्तर पुराण को छोड़ कर किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

पौराणिक काल में इस पर्व पर वेद-स्वाध्यायात्मक, ऋषितर्पण का सर्वथा लोप हो गया और श्रवणा कर्म के नाम से सर्पों को बलि देने आदि के नवीन विधान प्रचलित हो गये। होम यज्ञ का प्रचार भी उठ गया। लोग नदी वा तालाब पर जाकर पञ्चगव्यप्राशन स्नान तथा ऋषि-

तर्पण के कुछ संस्कृत वाक्य (ॐ ब्रह्मा तृप्यतां, ॐ विष्णुस्तृप्यतां, ॐ रुद्रस्तृप्यतां, ॐ सनकस्तृप्यतां, ॐ सनन्दनस्तृप्यतां, ॐ सनातनस्तृप्यतां, ॐ कपिलस्तृप्यतां, ॐ आसुरिस्तृप्यतां, ॐ वोढुस्तृप्यतां, ॐ पञ्चशिखस्तृप्यतां) उच्चारण करके अपने कर्तव्य की समाप्ति समझने लगे। आजकल पौराणिक घरों में स्त्रियां भित्तियों पर श्रवण की मूर्त्तियां गेरू से बनाकर उनको सेवय्यों से जिमाती हैं। राजपूत काल में अबलाओं के अपनी रक्षार्थ सबल वीरों के हाथ में राखी बांधने की परिपाटी का प्रचार हुआ। जिस किसी वीर क्षत्रिय को कोई अबला राखी भेज कर अपना राखीबन्द भाई बना लेती थी, उसकी आयु भर रक्षा करना उसका कर्तव्य हो जाता था। चित्तौर की महारानी कर्णवती ने मुग़ल बादशाह हुमायूं को गुजरात के बहादुरशाह से अपनी रक्षार्थ राखी भेजी थी, जिससे उसने चित्तौर पहुंच कर तत्काल अन्त समय पर उसकी सहायता की थी और चित्तौर का बहादुरशाह के आक्रमण से उद्धार किया था। तब से बहुत से प्रान्तों में यह प्रथा प्रचलित है कि भगिनियां और पुत्रियां अपने भ्राताओं और पिताओं के हाथ में श्रावणी के दिन राखी बांधती हैं और वे उन से कुछ द्रव्य और वस्त्र पाती हैं। यदि यह प्रथा पुत्री और भगिनीवात्सल्य को दृढ़ करने वाली मानी जाय तो उसके प्रचलित रहने में कोई क्षति भी नहीं है।

आजकल की श्रावणी को प्राचीन काल के उपाकर्म, उत्सर्जन, वेद-स्वाध्यायरूप, ऋषितर्पण और वर्षाकालीन बृहद् हवन-यज्ञ (वर्षाचातुर्मास्येष्टि) का विकृत तथा नाममात्र शेष स्मारक समझना चाहिये और प्राचीन प्रणाली के पुनरुज्जीवनार्थ उसको बीज मात्र मान कर उस को अङ्कुरित करके पत्रपुष्पफलसमन्वित विशाल वृक्ष का रूप देने का उद्योग करना चाहिये।

आर्य पुरुषों को उचित है कि श्रावणी के दिन बृहद् हवन और विधिपूर्वक उपाकर्म करके वेद तथा वैदिक ग्रंथों के विशेष स्वाध्याय का

उपक्रम करें और उसको यथाशक्ति और यथावकाश कुछ काल तक नियमपूर्वक चलाते रहें।

पद्धति

गृह्यपद्धति—नीचे पारस्करगृह्यसूत्रानुसार उपाकर्म की विधि लिखी जाती है। यह कांगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय के महोपाध्यायों द्वारा संकलित होकर वहां कई वर्षों से प्रचलित है और वहीं से निज उपयोगार्थ पुस्तिका रूप में भी मुद्रित हुई थी। उसी को कुछ परिवर्तित रूप में नीचे दिया जाता है—

प्रथम संस्कारविधि में लिखी हुई रीतियों से अग्निस्थापनादि करके, आघार और आज्यभागाहुतियों को देकर (१) ब्रह्मणे स्वाहा (२) छन्दोभ्यः स्वाहा ये दो आहुतियां देकर, निम्नलिखित घी की दश आहुति दें।

(१) सावित्र्यै स्वाहा। (२) ब्रह्मणे स्वाहा। (३) श्रद्धायै स्वाहा। (४) मेधायै स्वाहा। (५) प्रज्ञायै स्वाहा। (६) धारणायै स्वाहा। (७) सदसस्पतये स्वाहा। (८) अनुमतये स्वाहा। (९) छन्दोभ्यः स्वाहा। (१०) ऋषिभ्यः स्वाहा॥

तदनन्तर ऋग्वेद की निम्नलिखित ११ ऋचाओं से आहुति दें।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋ० मं० १०। सू० ७१। १॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

ऋ० मं० १०। सू० ७१। २॥

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

ऋ० मं० १०। सू० ७१। ३॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ४ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ५ ॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ६ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ७ ॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्तु त्वे ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ८ ॥

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ९ ॥

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । १० ॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥
ऋ० मं० १० । सू० ७१ । ११ ॥

इसके पश्चात् यजुर्वेद के इस मंत्र से—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।

सनिं मेधामयासिषᳪं स्वाहा ॥ यजुर्वेद अध्याय ३२ मं० १३ ॥

यजमान वा गृहपति हवन करे, किन्तु मन्त्र सब बोलें। पश्चात् सब उपस्थित पारिवारिक जन पलाश की तीन २ हरी वा शुष्क समिधाओं को घी से भिगोकर सावित्री मन्त्र से आहुति दें। इस प्रकार तीन बार करें। पुनः स्विष्टकृद्आहुति देकर प्रातराश किया जाय।

"शन्नो मित्रः०" इस मन्त्र को पढ़कर, उसके पश्चात् मुख धोकर, आचमन करके, अपने २ आसनों पर बैठ कर, जलपात्रों में कुशाओं को रख कर, हाथ जोड़ कर, पुरोहित के साथ तीन बार ओङ्कार व्याहृतिपूर्वक सावित्री पढ़ कर वेदों के निम्नलिखित मन्त्र पढ़ें।

ऋग्वेदः—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

यजुर्वेदः—

॥ ओ३म् ॥ ईषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशᳪंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ ओ३म् खं ब्रह्म।

सामवेदः—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

अथर्ववेदः—

ॐ शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः । सहस्रशंसा उतये गविष्टौ, सर्वामित तामुपयाता पिबध्यै ॥

पश्चात् यह मन्त्र पढ़ें ।

सह नोऽस्तु सह नोऽवतु, सह न इदं वीर्य्यवदस्तु । ब्रह्मा इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे ॥

इस वेद मन्त्र को पढ़ कर सामवेद का वामदेव्यगान करें ।

वेद तथा श्रावणी

गीतिका

वेद ही जग में हमारा, ज्योति जीवन-सार है ।
वेद ही सर्वस्व प्यारा, पूज्य प्राणाधार है ॥ टेक ॥
सत्यविद्या का विधाता, ज्ञान का गुरु गेय है ।
मानवों का मुक्तिदाता, धर्म धी का ध्येय है ॥
वेद ही परमेश प्रभु का, प्रेम-पारावार है ॥ १ ॥
ब्रह्म-कुल का देवता है, राजकुल रक्षक रहा ।
वैश्य-वंश-विभूषिता है, शूद्र-कुल-स्वामी महा ॥
वेद ही वर्णाश्रमों का आदि है, आधार है ॥ २ ॥
श्रावणी का श्रेष्ठ उत्सव पुण्य पावन पर्व है ।
वेद-व्रत-स्वाध्याय वैभव, आज ही सुख सर्व है ॥
वेद-पाठी विप्रगण का, दिव्य दिन दातार है ॥ ३ ॥

वेद का पाठन-पठन हों, वेद-वाद-विवाद हो ।
वेद हित जीवन मरण हो, वेद-हित आह्लाद हो ॥
आयजन का आज मे व्रत विश्व वेद-प्रचार है ॥ ४ ॥
"विश्व भर को आर्य करना" वेद का सन्देश है ।
"मृत्यु से किञ्चित् न डरना" ईश का आदेश है ॥
सृष्टि-सागर में हमारा, वेद ही पतवार है ॥ ५ ॥
रोज़ रोज़ सरोज सम श्रुति, "सूर्य" से खिलते रहें ।
वेद-चन्द्र, चकोर हम, द्युति मोद से मिलते रहें ॥
वेद ही स्वामी सखा सब, वेद ही परिवार है ॥ ६ ॥

(वैदिक-धर्म-विशारद, श्रीसूर्यदेव शर्मा M A विरचित)

श्रीकृष्णजन्माष्टमी

(भाद्रपद वदि अष्टमी)

धन्य है दिन आज का, शुभ-कृष्ण-भादव-अष्टमी ।
आज ही मा देवकी तो, कृष्ण बालक थी जनी ॥ १ ॥
रोहिणी नक्षत्र रजनी मध्य, अति अभिराम में ।
आज ही व्रजचन्द्र प्रगटे, श्री यशोदा-धाम में ॥ २ ॥
नाश करने को उन्हें, जो दुखद आठों याम थे ।
आज ही भारत मही में, आ पधारे श्याम थे ॥ ३ ॥
उमड़ आये घन, चहुँ दिश श्यामता थी छागई ।
मानो प्रकृति देवी स्वयं, स्वागत मनाने आगई ॥ ४ ॥

(श्री अमरनाथ पाण्डेय कृत)

प्रत्येक देश और जातियों में ऐसे समय आया करते हैं जब कि उन में ऐसे पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं, जो ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, कदाचार तथा कायरता के भावों से भरपूर होते हैं। वे समय उस देश और जाति के सूचक होते हैं। यह कब संभव था कि आर्यजाति, जिस की उन्नति, सभ्यता और विद्वत्ता का सिक्का संसार पर जम चुका था और जिस का उत्कर्ष चरम सीमा को पहुंच चुका था, कराल काल के चक्र में न आती। गत द्वापरयुग का अन्त भारत में ऐसा ही समय था। अब आर्यजाति का ज्ञानकाल व्यतीत हो गया था और उसके स्थान में प्राकृतिक वैभव का साम्राज्य वर्तमान था। अब भरत और राम के समान निःस्वार्थ भ्रातृप्रेम की मूर्तियां दृष्टिगोचर नहीं होती थीं। उनका स्थान कंस और दुर्योधन

जैसे राज्यलोलुप कुलकलंकों ने ले लिया था। अब राज्य, इन्द्रियवासनाओं की तृप्ति और ऐश्वर्य-प्रदर्शन का साधन मात्र रह गया था। सर्वत्र ऐहिक उन्नति और बाह्य आडम्बर का प्रसार दिखाई देता था। भारत में चारों ओर परस्पर ईर्ष्यालु अनेक छोटे बड़े स्वतन्त्र राज्य फैले हुए थे। वे धन, धान्य आदि सुखोपभोग की सभी सामग्रियों से समृद्ध थे और उनके नरेश शस्त्रविद्यापारङ्गत और वीर होते हुए भी मद्यपान और द्यूतक्रीड़ा आदि विविध दुर्व्यसनों में रत रहते थे। उनमें कोई चक्रवर्ती राजा न था। यद्यपि उस समय मगध-नरेश जरासंध की शक्ति की धाक सर्वत्र बैठी हुई थी, उसने बहुत से राजाओं को अपने यहाँ बन्दी बना रक्खा था। सब राजा उसके अत्याचार से डरते रहते थे और उसके बल का लोहा मानते थे। चेदिदेश का राजा शिशुपाल भी उस समय महाशक्तिशाली समझा जाता था। प्राग्ज्योतिष (आसाम) का राजा नरकासुर भी बड़ा दुराचारी और बलवान् माना जाता था। उसने अपने दुराचार के लिए असंख्य सुन्दरी कुमारियां अपने यहां बन्दी बना कर रक्खी हुई थीं। तथापि कोई सर्वोपरि सम्राट् उस समय विद्यमान न था। उसी समय शूरसेन (मथुरा) के राजा कंस की राज्यलोलुपता इस सीमा तक बढ़ चुकी थी कि वह अपने वृद्ध पिता महाराज उग्रसेन को बन्दी बना कर स्वयं सिंहासनारूढ़ हो गया था। हस्तिनापुर के विशाल राज्य में राज्य सिंहासन के लिये कौरव और पाण्डवों में भयंकर गृह-कलह मच रहा था। उस समय राजाओं और राजघरानों का चरित्र बहुत ही गिर चुका था। सत्यवती और कुन्ती के कानीन पुत्रों की उत्पत्ति, द्रौपदी का पञ्चपतित्व, कौरवों का लाक्षागृह, युधिष्ठिर की द्यूतक्रीड़ा, द्रौपदी का भरी सभा में अपमान और अर्जुन का सुभद्राहरण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब राजा और राजपुरुष ही चरित्र हीन हो जायं तो प्रजा का चरित्र कैसे उच्च रह सकता है? उनमें भी इन्द्रियासक्ति और दुर्योधनादि के अत्याचारों के प्रति विरक्ति तथा कायरता प्रसार पा चुकी थी। "यथा राजा तथा प्रजा"

के अनुसार जनता भी अपने प्रभुओं का अनुकरण करती थी। उसमें विलासिता और अर्थलोलुपता दिनों दिन बढ़ रही थी। अनेक विद्या विशारद ब्राह्मण अर्थ के दास होकर राजकुलों की सेवा स्वीकार करने लगे थे, जैसा कि गुरु द्रोणाचार्य कौरवों के अर्थक्रीत दास बन कर उनके द्रौपदी के प्रति किये हुए महान् अत्याचार पर भी चुप रहे थे और उनकी ओर से महाभारत-युद्ध में सेनापति बन कर लड़े थे। वैश्य, शूद्र और स्त्रियों को हीन समझा जाने लगा था, जिसका कि श्रीमद्भगवद्-गीता में उल्लेख पाया जाता है। एकलव्य को केवल शूद्र होने के कारण द्रोणाचार्य ने धनुर्विद्या नहीं सिखलाई थी। वेद का पठन-पाठन भी शनैः शनैः घट रहा था। भीष्मपितामह जैसे परम ज्ञानी भी वेद में प्रवेश न रखते थे, इसका उल्लेख शान्ति पर्व में विद्यमान है। महाभारत युद्ध की कई घटनाएं बता रही हैं कि उस समय धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि हो रही थी। ऐसे धर्मसंकट के अवसरों पर ही परम पिता परमात्मा की परम्परागत धर्म-रक्षाकारिणी व्यवस्था के अनुसार धर्मोद्धारक महापुरुषों का अवतार वा आविर्भाव हुआ करता है, जिनके असाधारण कार्यों को देखकर जनता में उनके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, विभु, मुक्त, अकाय, अजन्मा परमब्रह्म के अवतार होने (शरीर धारण करने) का मिथ्याज्ञान संसार में फैल जाता है। यदि अवतार का अर्थ परमेश की विभूतियों से विशिष्ट (क्योंकि उपासक अपने उपास्य देव की विभूतियों और गुणों को उपासना द्वारा सदैव ग्रहण करते रहते हैं) अनेक जन्म की संस्कारसम्पन्न आत्माओं के धराधाम पर पुनः अवतीर्ण होने वा जन्मने का लिया जाय, तो इसमें वैदिक सिद्धान्त की कुछ भी क्षति नहीं है। ऐसे ही जन्मजन्मान्तर के संस्कृतात्मा तथा विविध विभूति विशिष्ट एक महापुरुष का लोकाभ्युदय-कारक अवतार वा आविर्भाव आज (संवत् १९८१ वि०) से ५१५२ वर्ष पूर्व भाद्रपद वदि अष्टमी, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र में उत्तर भारत के शूरसेन देश की राजधानी मथुरा में हुआ था। इसी शूरसेन देश के राजा

उग्रसेन को उसका दुराचारी पुत्र कंस गद्दी से उतार कर आप राजा बन बैठा था, यह ऊपर कहा जा चुका है। कंस को जरासन्ध की दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति नामक ब्याही थीं और अपने अत्याचारी श्वशुर के बूते पर वह हज़ारों अत्याचार करता था। प्रजा उसके पीड़न से तंग आ गई थी, प्रजा को कंस के अत्याचार से बचाने का जो लोग उद्योग करते थे, उनका अग्रगन्ता यादववंशावतंस वसुदेव नामक एक वीर न्यायप्रिय पुरुषरत्न था, इसलिये कंस उससे सदैव जलता रहता था और भयभीत भी रहता था। उग्रसेन के कनिष्ठ भ्राता देवल की कन्या अर्थात् कंस की चचेरी भगिनी देवकी श्री वसुदेवजी को ब्याही थी। कंस, वसुदेव तथा देवकी की तेजस्विता से आशंकित रहकर उनके नाश के प्रयत्न में सदा तत्पर रहता था। अन्त को उसने वसुदेव देवकी को उनके गृह में अवरुद्ध (नज़रबन्द) कर दिया। किसी ने उसको यह सुझा दिया था कि देवकी के पुत्र के हाथ से तुम्हारा बध होगा, इसलिए उसने देवकी के छः पुत्रों को जन्मते ही मार डाला। सातवें गर्भ का, भावी नाश के भय से, मध्य में ही पात हो गया। श्री वसुदेवजी अपनी जेष्ठा गर्भवती भार्या रोहिणी को कंस के अत्याचार की आशंका से गोकुल निवासी अपने मित्र नन्द नामक गोपाधिपति के घर पहुंचा आए थे।

भाद्रपद कृष्णाष्टमी की अंधियारी आधी रात को घोर वृष्टि के समय देवकी के आठवें पुत्र का जन्म हुआ। वर्षा की शीतल वायु ने पहिरेदारों को थपकी देकर घोर निद्रा की गोद में सुला दिया। उसी समय वसुदेव उस बालक को रातों रात यमुना पार करके नन्द के यहाँ गोकुल में पहुंचा आए और उसी रात नन्द के यहाँ उसकी स्त्री यशोदा की कोख से तुरन्त की जनमी हुई कन्या को उसके बदले में उठा लाए और उसको देवकी के पास लाकर लिटा दिया। कंस ने उसको देवकी की कन्या समझ कर मार डाला। इसके पहिले ही नन्द के यहाँ रहने वाली वसुदेव की ज्येष्ठा भार्या रोहिणी के यहाँ भी पुत्र का जन्म हो चुका था। इसका नाम

बलराम रक्खा गया था। देवकी का पुत्र भी कृष्ण नाम से गोकुल में नन्द के यहाँ गोपों में पलता रहा। उस समय भारत में नगरों के निकट बड़े बड़े वन वर्तमान थे, जिनमें लक्षों गौवें चर कर भव्य भारत को घृत और दुग्ध के प्रभाव से आप्यायित करती रहती थीं। मथुरा राजधानी के चारों ओर भी ऐसा ही विशाल वन विद्यमान था। उसी में गोपाधिप नन्द का अगणित गौवों का कुल रहता था और वह स्थान अपने अन्वर्थ नाम से गोकुल विख्यात था। वस्तुतः गौओं के ब्रज (समूह) के आवास के कारण ही मथुरा के चारों ओर की वनस्थली की व्रज वा व्रज-मण्डल संज्ञा हो गई थी। गोप लोग उसी व्रज-मण्डल के निवासी थे। वे अपने गोसमूह को साथ लिए हुए यत्र-तत्र कुछ २ दिन बसते हुए घूमते रहते थे। ये लोग स्वभाव के सरल, सहृदय तथा शरीर के हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ होते थे। मन और आत्मा को आनन्दित करके उन्नति देने वाला संगीत (गीत-वाद्य), शारीरिक विकास के अद्वितीय साधन गोदुग्ध और घृत का आहार तथा मल्ल-कला का अभ्यास उनके अहर्निश के समय-यापक प्रिय व्यापार थे। ऐसे लोगों में पल कर श्रीकृष्ण दिनोदिन चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त होने लगे। गोपों का निष्कपट प्रेम, वनों का बलप्रद यमुना-तीरवर्ती स्वतन्त्र धीर समीर और आनन्दमय सरल जीवन का निष्पाप वायुमण्डल, इन बातों ने मिल कर सहज सुन्दर श्याम शरीर श्रीकृष्ण को निष्कपट प्रेमी और अतुल पराक्रमी बना दिया। बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता अन्य गोप-बाल बालिकाओं के साथ क्रीड़ा में रत रहकर नन्द, यशोदा, रोहिणी और गोकुल के गोपमात्र को अपनी बाल लीला से हर्षित करते रहते थे। गोपों के साथ रह कर श्रीकृष्ण मल्ल कला और वेणुवादन वा वंशी बजाने में अति प्रवीण हो गए। उनकी सुरीली मुरली के कारण ही उनका नाम मुरलीमनोहर वा मुरलीधर पड़ गया था। वे मल्लकला में भी पूर्ण सिद्धहस्त हो गए थे। संगीत और मल्लकला में वे सब गोपों में अग्रणी माने जाने लगे। श्रीकृष्ण अपने इन गुणों तथा

प्रेम और पराक्रम से गोपों के अतीव प्रेमपात्र बन गए। बाल्यकाल में ही उन्होंने शारीरिक बल का अद्भुत परिचय दिया। व्रज के उत्तर ओर यमुना के एक ह्रद में एक महाभयंकर काला अजगर रहता था, जो कालिय नाम से प्रसिद्ध था। उसके भय से आसपास के पशु पक्षी यमुना के उस तट पर नहीं जाते थे। किशोर श्रीकृष्ण ने उस अजगर को वहाँ से मार भगाया।

गोवर्धन पर्वत के उत्तर ओर यमुना के तट पर तालवन में वनगर्दभ बड़ा उपद्रव मचाते थे। इनमें से एक बड़े बलवान् धेनुक नामक गर्दभ-राज को बलराम ने अपनी मल्लकला के बल से मार डाला, जिससे वह वन उन वनगर्दभों के उपद्रव से रहित हो गया। श्रीकृष्ण को उन्मत्त बैलों के युद्ध देखने की बड़ी रुचि थी। अन्य गोप भी ऐसे दृश्यों से बड़े प्रसन्न होते थे। यदि कोई अत्यन्त उन्मत्त बैल अवश्य वा बेक़ाबू होकर दर्शकों पर पलट पड़ता था तो श्रीकृष्ण ही उसको अपने बाहुबल से वश में लाते थे। इसी प्रकार श्रीकृष्ण तथा बलराम के शारीरिक बल की ख्याति चारों ओर फैलने लगी और वह धीरे धीरे कंस के कानों तक भी जा पहुंची। उसके गुप्तचरों ने खोज करके पता पा लिया कि श्रीकृष्ण और बलराम वस्तुतः वसुदेव के पुत्र हैं और उसने उनको नन्द के यहाँ गुप्तरूप से सुरक्षित रख छोड़ा है। यह जानकर कंस को बड़ी चिन्ता हुई और उसने नन्द के यहां ही कृष्ण के वध के अनेक उपाय किए, पर वे सब विफल हुए। किसी कवि ने क्या ही ठीक कहा है:—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥

अर्थ—जिसकी दैव रक्षा करता है वह विना रक्षा किए भी सुरक्षित रहता है, जिसके दैव प्रतिकूल होता है वह अच्छी तरह से रक्षा करने पर भी नष्ट हो जाता है। वन में छोड़ा हुआ भी अनाथ जीता रहता है, प्रयत्न करने पर घर में सुरक्षित भी नष्ट हो जाता है।

उसने कृष्ण को मारने के लिए नरपिशाची पूतना तथा अघासुर आदि अनेक नृशंसों को व्रज में भेजा, पर उन्होंने पराक्रमी श्रीकृष्ण के अमोघ भुजदण्ड से मृत्यु के मुख में प्रवेश पाया।

श्रीकृष्ण के इन असाधारण पराक्रमपूर्ण बालचरित्रों को श्रीमद्भागवत आदि में चमत्कार रूप में वर्णन किया गया है, जो श्रीकृष्ण को साक्षात् ब्रह्म का पूर्णावतार मानने वालों के लिए स्वाभाविक ही है। किन्तु यदि उन सारे कृत्यों को ऐतिहासिक वा मानवी दृष्टि से देखा जाय तो उनमें कुछ भी अस्वाभाविकता वा अलौकिकता नहीं है। महापराक्रमी महापुरुष अपने भावी उत्कर्ष का परिचय अपनी बाल्यावस्था से ही दिया करते हैं। और वे सर्वसाधारण के अपवादस्वरूप होते हैं। इस क्षुद्र निबन्ध में श्रीकृष्ण की बाल-लीला की पर्यालोचना के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है। विज्ञजन उस पर स्वयम् विचार कर सकते हैं। अपने प्रयत्नों में विफल मनोरथ हो कर कंस ने श्रीकृष्ण और बलराम के नाश के लिए एक और षड्यन्त्र रचा। उसने मल्लकला में मल्लों के नैपुण्य प्रदर्शनार्थ एक मल्लयुद्ध की प्रदर्शनी की आयोजना की और अपने यहां के प्रसिद्ध मल्ल चाणूर और मुष्टिक के साथ मल्लयुद्ध करने के लिए कृष्ण और बलराम को बुलाने को व्रजमण्डल में अक्रूर नामक वृद्ध यादव को भेजा। अक्रूर वहां जाकर कृष्ण और बलराम को अन्य बहुत से व्रजवासियों सहित मथुरा लिवा लाया। वहां पहुंच कर प्रथम तो श्रीकृष्ण ने अपने अमोघ बल से अपना मार्ग रोकने वाले कंस के कुवलयापीड हाथी को उसका दांत उखाड़ कर मार गिराया और फिर कंस के विख्यात मल्लों मुष्टिक और चाणूर को मल्लयुद्ध में वध करके कंस को भी चोटी पकड़ कर उसके सिंहासन से नीचे घसीट लिया और तत्काल उसके प्राणपखेरुओं को उसके पापी देह से सदा के लिए विदा कर दिया। श्रीकृष्ण कंस को मार कर उसके सिंहासन के अधिकारी स्वयं नहीं बने। वे उसके पिता उग्रसेन को सम्मान पूर्वक राजगद्दी पर बिठला कर आप एक सामान्य प्रजाजन के

समान अपने माता-पिता वसुदेव-देवकी के पास मथुरा में रहने लगे। मथुरा की इस राज्यक्रान्ति से भारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण की ख्याति फैल गई। और उस समय के अन्याचारी राजा उनको अपना शत्रु समझने लगे। मगध नरेश जरासन्ध कंस का वध सुनकर अपनी पुत्रियों के वैधव्य से अतीव मर्माहत हुआ। श्रीकृष्ण पर उसके कोप की सीमा न रही। उसने भारी सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण किया। श्रीकृष्ण ने यादवों की वीरवाहिनी से जरासन्ध के आक्रमण को विफल करके उसको वहां से मार भगाया। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् जरासन्ध ने नई सेना लेकर अपने मित्र नरेशों सहित मथुरा पर फिर चढ़ाई की। मथुरा के वीर पूर्वयुद्ध से श्रान्त थे, इसलिए इस वार वृद्ध यादव विकद्रु की मन्त्रणा से उन्होंने जरासन्ध का सामना करना उचित न जाना और यह उपाय सोचा गया कि मथुरा को इस सङ्कट से बचाने के लिए श्रीकृष्ण दक्षिण की ओर के पर्वतों पर चले जांय। वहां पर्वतों में जरासन्ध को उनसे युद्ध करना कठिन हो जायगा। तदनुसार श्रीकृष्ण मथुरा से दक्षिण के गोमन्त पर्वत पर चले गए। जरासन्ध भी ससैन्य उनका पीछा करता हुआ वहीं पहुंचा। गोमन्त पर्वत पर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध की सेना के छक्के छुड़ा दिए और वहां से उसको अपने प्राण लेकर भागना पड़ा। दक्षिण में ही श्रीकृष्ण ने यादवकुलोत्पन्न करवीर-नरेश शृगाल को युद्ध में मार कर उसके पुत्र को उसके राज्यसिंहासन पर बैठाया और वहां से चलकर वे फिर मथुरा लौट आए।

नन्द के यहां बाल्य और कैशोर अवस्था बिताते हुए श्रीकृष्ण ने नियम पूर्वक गुरुकुल में रहकर विद्याभ्यास न किया था, न उनका अभी तक यथाशास्त्र उपनयन संस्कार ही हुआ था, इसलिए मथुरा आने पर अब २१ वर्ष की आयु में उनका और बलराम का यज्ञोपवीत-संस्कार करके उनको उज्जयिनी में सान्दीपनिकाश्य के गुरुकुल में नियमपूर्वक शास्त्र और शस्त्रविद्या के अभ्यास के लिए भेजा गया। वहां रह कर वे

शीघ्र ही सांगोपाङ्ग वेदों और धनुर्विद्या के पारङ्गामी हो गए। गुरुकुल में वे अपने सहाध्यायी सुदामा आदि के साथ वन में समिधा, कुश और फल लाने तथा गो-पालन आदि गुरुसेवा में समान रूप से तत्पर रहते थे। गुरुकुल में विद्या समाप्त करके अपना समावर्तन करा कर वे पुनः मथुरा लौट आए और अपने माता-पिता के पास रहने लगे। इसी समय उनको अपने सम्बन्धियों का परिचय पाने और उनसे मिलने का अवसर मिला। उनके पिता वसुदेव की भगिनी पृथा उपनाम कुन्ती हस्तिनापुर के राजा पाण्डु को विवाही थी। वानप्रस्थी पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् वह अपने छोटे पुत्रों की रक्षा के लिए अपने मातृधर्म के पालनार्थ उनको लेकर हिमालय से हस्तिनापुर आ गई थी। श्रीकृष्ण ने अक्रूर को उसके पास यह सन्देश देकर भेजा कि पराक्रमी कृष्ण तुम्हारे बालकों के सदा संरक्षक रहेंगे। उन्होंने हस्तिनापुर के अधिराज धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोणादि से भी यह कहला भेजा कि मेरे फुफेरे भाइयों का यथोचित पालन कीजिए। उस समय कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन की अवस्था क्रमशः ७, ६ और ५ वर्ष की थी। श्रीकृष्ण उस समय २५ वर्ष के युवा थे॥

चेदि देश के राजा दमघोष की स्त्री अर्थात् शिशुपाल की माता भी महाराज वसुदेव की भगिनी और श्रीकृष्ण की बुआ थी, किन्तु उसका पुत्र शिशुपाल कृष्ण से शत्रुता रखता था। उन्हीं दिनों विदर्भ (वर्तमान बरार) के राजा भीष्मक ने अपनी राजधानी कुण्डिनपुर में अपनी रूपवती कन्या रुक्मिणी का स्वयंवर रचाया। भीष्मक और उसका पुत्र रुक्मी जरासंध के दल में थे, इसलिए उन्होंने श्रीकृष्ण को स्वयंवर का निमन्त्रण नहीं भेजा, परन्तु रुक्मिणी श्रीकृष्ण के पराक्रमों की कथा सुनकर उनको मन ही मन अपना पति वर चुकी थी। श्रीकृष्ण भी गुप्त रूप से इसका समाचार पाकर स्वयंवर में जा पहुंचे। परन्तु जरासन्ध और शिशुपाल आदि श्रीकृष्ण के ईर्ष्यालु राजाओं ने कृष्ण के मूर्द्धाभिषिक्त राजा न होने का बहाना बनाकर उनको स्वयंवर में सम्मिलित न होने दिया और इस

गड़बड़ में स्वयंवर ही विलम्बित कर दिया गया। अब तीसरी बार जरासंध ने फिर मथुरा पर चढ़ाई की। उसने पश्चिम की ओर से सम्भवतः भारतीय सीमा के बाहर से कालयवन को उभार कर मथुरा पर आक्रमण कराया और स्वयम् पूर्व की ओर से चढ़ दौड़ा। श्रीकृष्ण ने इस सम्मिलित शत्रुसेना का सामना करने में यादवों को अशक्त पाकर पूर्व ही मथुरा को त्याग कर आनर्त (वर्तमान गुजरात देश) के निकट कुशस्थली द्वीप से अपने बन्धु-बान्धवों को जा बसाया और उस नई बसीयत का नाम द्वारिका रक्खा, जो समय पाकर यादवों की समृद्धिशालिनी राजधानी तथा पुराणों की सप्तपुरियों में प्रसिद्ध द्वारिकापुरी बन गई और श्रीकृष्ण के पिता वसुदेवजी वहां के सम्राट् अभिषिक्त हुए। कालयवन और जरासन्ध की सेना कृष्ण सा पीछा करती हुई पर्वतों में पहुंच कर नष्ट-भ्रष्ट हो गई अ र कालयवन भी वहीं मृत्यु का ग्रास बन गया। फिर जरास-ध को कृष्ण पर चढ़ाई करने का साहस न हुआ।

रुक्मिणी के पिता भीष्मक ने रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से करना चाहा, परन्तु कृष्ण महाराज रुक्मिणी के गुप्त पत्र से इसकी सूचना पाकर कुण्डिनपुर पहुंच कर विवाह से पूर्व ही उसको हर लाए और उसको द्वारिका में ला, वैदिक विधानानुसार अपनी धर्मपत्नी बनाया। श्रीकृष्ण ने सत्यभामा आदि कई कुलकामिनियों से और भी कई विवाह किए थे। ये विवाह उस समय श्रीकृष्ण जैसे आदर्श पुरुषों में भी अवैदिक बहुविवाह की कुप्रथा के प्रचलित होने के प्रबल प्रमाण हैं। कहां तो मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र का वह वैदिक आदर्श कि उन्होंने यज्ञाङ्ग की पूर्ति के लिए भी सीता के वनवास के समय द्वितीय विवाह करना स्वीकार न किया और सीता की स्वर्ण की मूर्ति बनाकर यज्ञ के कृत्य को पूर्ण किया और कहां धर्मोद्धारक, भूभारहारक योगिराज श्रीकृष्ण की बहुविवाह के कुचक्र में फँसावट। अहो! काल की विचित्र गति है।

इधर श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम और बाहुबल से द्वारिका में समृद्ध

राज्य स्थापित कर, गृहस्थ-सुख भोग रहे थे। उधर गङ्गा के तीर पर हस्तिनापुर में कौरव और पाण्डवों में राज्यप्राप्ति के लिए षड्यन्त्र चल रहे थे। पाँचों पाण्डव युवक अपनी माता कुन्ती सहित वारणावत के मेले में दुर्योधन के लाक्षा-गृह से बच कर इधर उधर भ्रमण करते हुए पाञ्चाल (चम्बल नदी और हिमालय का मध्यवर्ती देश) के नरेश द्रुपद की राजधानी काम्पिल्य (वर्तमान फ़र्रुखाबाद ज़िले का कम्पिल कसबा) में उसकी पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में पहुंचे। श्रीकृष्ण भी अपने पुत्र प्रद्युम्न के लिए पत्नीप्राप्ति की इच्छा से सपरिवार उस स्वयंवर में गए थे। परन्तु स्वयंवर के मत्स्यवेध पण को कोई भी पूरा न कर सका। अन्त में ब्राह्मण-वेशधारी मध्यम पाण्डव अर्जुन ने धनुष उठा कर मत्स्यवेध कर द्रौपदी से वरमाला पा कर उसका पाणिग्रहण किया। ब्राह्मणवेशधारी पुरुष के अर्जुन ज्ञात होने पर श्रीकृष्ण अपने पितृष्वस्रेय (फुफेरे) पाण्डवों और पितृस्वसा कुन्ती से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। अन्धराज धृतराष्ट्र ने कृष्ण और द्रुपद की सहायता प्राप्त पाण्डवों से भयभीत होकर तथा लोकलज्जा से पाण्डवों को हस्तिनापुर बुला कर और दुर्योधन को समझा-बुझा कर उन को आधा राज्य बाँट कर दे दिया। दुर्योधन के भाग में धनधान्य-पूर्ण हस्तिनापुर (वर्तमान ज़िला मेरठ) की ओर का राज्य आया और पाण्डवों को यमुनातीरवर्ती निर्जन खाण्डव वन मिला। परन्तु पाण्डवों ने अपने पराक्रम और परिश्रम से खाण्डव वन को जला कर यमुना तट पर खाण्डवप्रस्थ नगरी बसा कर उसको अपनी राजधानी बनाया। वह कुछ ही वर्षों में पाण्डवों के धर्म और न्यायानुमोदित शासन से समृद्धिशालिनी महानगरी बन कर इन्द्रप्रस्थ कहलाने लगी और राजपूती काल में दिल्ली के नाम से प्रसिद्ध होकर अब भी भारत की राजधानी बनी हुई है। पाण्डवों के राज्य की यहाँतक उन्नति हुई और उन में और श्रीकृष्ण में सौहार्द यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने श्रीकृष्ण की अनुमति और सहायता से चारों दिशाओं का

दिग्विजय कर के राजसूय यज्ञ करने का संकल्प किया ।

अब से पूर्व श्रीकृष्ण ने सेना के विना अर्जुन और भीम के साथ जरासन्ध की राजधानी राजगृह में पहुंच कर भीम से उस का शस्त्ररहित बाहुयुद्ध करा कर जरासन्ध को उसके हाथ से परलोक पहुंचवाया और उसका राजसिंहासन उसके पुत्र सहदेव को दे कर सानन्द इन्द्रप्रस्थ लौट आए। इसके अनन्तर अर्जुन ने उत्तर, भीम ने पूर्व, सहदेव ने दक्षिण और नकुल ने पश्चिम का दिग्विजय करके सब राजाओं को युधिष्ठिर का वशवर्ती बना दिया और ससमारोह राजसूय यज्ञ की आयोजना की गई। महर्षि कृष्ण-द्वैपायन व्यास इस यज्ञ के ब्रह्मा, याज्ञवल्क्य अध्वर्यु, धनंजय उद्गाता तथा पैल और धौम्य होता बनाए गए। स्वस्तिवाचन कर के सोने के हल से यज्ञभूमि तैयार की गई और यज्ञायतन बनाए गए। महाराज युधिष्ठिर को यज्ञदीक्षा दी गई। देशदेशान्तरों से आए हुए राजे महाराजों और कौरवों को यज्ञ के अतिथिसत्कार आदि सब कार्य बांट दिए गए। अवभृथ-स्नान से पूर्व सर्वश्रेष्ठ पुरुष की पूजा का अवसर आया। युधिष्ठिर ने कृताकृत के परीक्षक कुरुवृद्ध भीष्मपितामह से इस विषय में प्रश्न किया। उन्हों ने श्रीकृष्ण को अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया, परन्तु श्रीकृष्ण के पुराने शत्रु उन के पितृष्वस्रेय शिशुपाल से उन का यह मान न सहा गया। वह क्रुद्ध हो कर श्रीकृष्ण को कुवाच्य बकने लगा। भीष्मपितामह ने उस को बहुतेरा समझाया किन्तु उसका क्रोध भड़कता ही जाता था। जब वह श्रीकृष्ण पर आक्रमण करने को दौड़ा तो उन्हों ने अपने सुदर्शनचक्र से उसका सिर काट लिया। इस के अनन्तर महाराजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ को विधिपूर्वक पूरा किया। उस में सम्मिलित सब ऋषि मुनियों और राजाओं ने युधिष्ठिर को भारत के साम्राज्यवैभव और उन के मय-दानव निर्मित प्रशस्त राजप्रासादों को देख कर दुर्योधन ईर्ष्यानल से दग्ध हो गया। एक स्थान पर उसको स्फटिक के फ़र्श देख कर जल की भ्रान्ति हो गई और वह अपने वस्त्र ऊपर उठा

कर उस पर चलने लगा। वहाँ जल न पा कर वह बहुत लज्जित हुआ, दूसरे स्थल पर उसने जलपूर्ण सरोवर को स्फटिकशिला समझ कर और उस में गिर कर अपने वस्त्र भिगो लिए। इस पर द्रौपदी और पाण्डवों को हँसी आगई। दुर्योधन के हृदय में इस से गहरा घाव हो गया और वह हस्तिनापुर लौट कर पाण्डवों के सर्वनाश का उपाय सोचने लगा। अपने शठ सभासदों से कुमन्त्रणा कर के उसने युधिष्ठिर को अपने यहाँ बुला कर द्यूतक्रीड़ा में फंसाया। दुर्योधन के मामा सिद्धहस्त कितव (जुआरी) शकुनि ने छल से युधिष्ठिर का सारा राज्य, उसकी सहधर्मिणी द्रौपदी और चारों भ्राताओं सहित जुए में जीत लिया। दुष्ट दुःशासन द्वारा भरी सभा में एकवस्त्रा द्रौपदी को उसके केश पकड़ कर घसिटवा मंगाया और भरी सभा में उसको दासी कह कर अपमानित किया। मर्माहता द्रौपदी ने कुरुवृद्ध भीष्मपितामह आदि को संबोधित करके पूछा कि क्या मैं दुर्योधन की दासी कहला सकती हूं। भीष्म ने उत्तर दिया— युधिष्ठिर ने स्वयं दास हो कर तुमको दाँव पर रक्खा यह अन्याय है, पर तुम दास युधिष्ठिर की अर्धांगिनी हो कर दासी हुई या नहीं यह कहना कठिन है। भीष्म पितामह की इस धर्मव्यवस्था को सुन कर दुर्योधन बड़ा आनन्दित हुआ और उसने दुःशासन को पाण्डवों और द्रौपदी के अमूल्य वस्त्र उतार लेने की आज्ञा दी। दुःशासन ने पाण्डवों के वस्त्र अपहरण करके द्रौपदी को भी विवस्त्रा करना चाहा, किन्तु दीनवत्सल परमपिता परमात्मा ने द्रौपदी की लाज रखली। द्रौपदी का वस्त्र दुष्ट दुःशासन न खींच सका। यहाँ श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित के लेखकों ने यह गाथा वर्णित की है कि द्रौपदी के श्रीकृष्ण को स्मरण करने पर, उन्होंने उसके वस्त्र को इतना बढ़ा दिया कि दुःशासन के हाथ उसको खींचते २ अशक्त होगए और वह उसके वस्त्र को उतारने में असमर्थ रहा। किन्तु ऐतिहासिक बुद्धि इस वर्णन को स्वीकार नहीं कर सकती। संभव है कि सती, साध्वी, शूर क्षत्रिया, वीरवधू, वीरस्नुषा, द्रौपदी के

अधृष्य तेज के सामने पापी दुर्बलहृदय दुःशासन का दुःसाहस उसकी ओर हाथ बढ़ाने का न हुआ हो। ऐसी घटनाएँ अनेकबार घटी हैं। तेजस्विर्यों के सामने बड़े बड़े अत्याचारियों के हाथ भी रुक गए हैं, वा संभव है कि धृतराष्ट्र आदि वृद्ध कौरवों ने बीच-बिचाव करा दिया हो। आगे की घटना इस बात की पुष्टि भी करती है। इस के अनन्तर ही पाण्डवों के बारह वर्ष के बनवास और तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास के पण पर पुनः द्यूतक्रीड़ा का वर्णन है। प्रतीत होता है कि बीच-बिचाव करने वालों ने राजस्नुषा और राजवधू द्रौपदी का घोर अपमान टालने के लिए यह बात तै कर दी हो कि इस बार तो चारों भ्राता और द्रौपदी सहित युधिष्ठिर का राज्य उसको लौटा दिया जाय और दुर्योधन उपर्युक्त पण पर पासा फेंके और यदि युधिष्ठिर का सौभाग्य उस की सहायता करे तो वह पूर्ववत् अपने साम्राज्य का सुखोपभोग करता रहे और यदि दैव उस के विपरीत हो तो वह सभार्यबान्धव बारह वर्ष और तेरहवें अज्ञात वर्ष (वस्तुतः आजीवन) बन में वास करे, क्योंकि कौरवों को अपनी कूट अक्षक्रीड़ा के भरोसे से यह पूर्ण निश्चय था कि हम दाँव को जीत ही लेंगे और तेरहवें अज्ञातवास के वर्ष में कहीं न कहीं पाण्डवों को पा कर उन को पुनः १२ वर्ष के बनवास के लिए बाधित करते रहेंगे।

जहां तक प्रबल अनुमान की पहुंच हो सकती है उस से उपर्युक्त घटनाक्रम ही प्राप्त होता है। हमारे वर्तमान महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के अलौकिक घटनावली के घटाटोप से आच्छादित रहते हुए बेचारे ऐतिहासिकों को उपर्युक्त प्रकार से अन्धेरे में लकड़ी से टटोलने के अतिरिक्त और गति ही क्या है? हाँ, भारतीय आर्यसामाजिक ऐतिहासिक पुरुष अपने पूर्वपुरुषों के गौरव पर दृष्टि रखते हुए ऐसा करते हैं। किन्तु भारतीय गौरव से सहानुभूतिशून्य और भारतीय आचारविचार से सर्वथा अनभिज्ञ विदेशी ऐतिहासिकों से ऐसी आशा दुराशामात्र है। भारतीय इतिहास के कर्ता टालबोए ह्वीलर (Tallboy Wheeler) का

कौशल्या के विषप्रयोग से उत्तर कोसल (अवध) नरेश दशरथ का मृत्यु विषयक दूषित अनुमान इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

अन्त को कौरवों की चाण्डालचौकड़ी की मनचाही हुई। पांसा युधिष्ठिर के उलटा पड़ा और वे सपरिवार वनवासी बने।

पांचों पाण्डव और द्रौपदी अपने पुरोहित धौम्य सहित काम्यक वन में वास कर रहे थे कि श्रीकृष्ण सपरिवार उन से वहाँ मिलने आए। द्रौपदी ने रो रो कर उन को अपनी विपत्ति कह सुनाई। श्री कृष्ण ने उन को बहुत सान्त्वना दी और कहा कि मैं द्वारिका में नहीं था, इसी से यह अनर्थ हो गया, अन्यथा मैं अवश्य हस्तिनापुर पहुंच कर इस द्यूत की दुर्घटना को न होने देता। मैं शाल्व का पीछा करता हुआ, जिसने वायु यानों द्वारा द्वारिका पर आक्रमण किया था, मार्तिकावत तक चला गया था और वहीं मैंने उसका वध किया। श्री कृष्ण के इस कथन से भी उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है कि श्री कृष्ण को उस समय द्यूतक्रीड़ा आदि का कुछ भी ज्ञान न था।

इस समय श्रीकृष्ण की आयु ७० वर्ष के लगभग थी, वे गृहस्थाश्रम को पूरा करके और पौत्र अनिरुद्ध का मुख देख कर वैदिक मर्यादानुसार तृतीय आश्रम में प्रवेश की तैयारी कर रहे थे और ऋषियों से ज्ञान श्रवण और योगाभ्यास के लिए काम्यक वन में आए थे। बाल्य-काल तथा यौवन के मल्ल श्रेष्ठ और वीरवर श्रीकृष्ण अब योगिराज बन गए थे।

वनवास और अज्ञातवास को पूरा करके पाण्डव राजा विराट् की राजधानी विराट् नगरी (वर्तमान वैरट जो जयपुर से ४० मील उत्तर है) में प्रगट हुए। तब श्रीकृष्ण भी अपनी भगिनी सुभद्रा, जो अर्जुन को विवाही थी, भागिनेय अभिमन्यु तथा अन्य यादवों सहित उनसे वहीं आकर मिले। विराट्-राज ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया। विवाह के पश्चात् सब ने सम्मति करके कौरवों के पास दूत भेज कर पाण्डवों को उनका राज्य वापिस कर देने

का सन्देश भेजा। राजर्षि भीष्म ने भी उन को यही परामर्श दिया, परन्तु दुर्योधन को यह बात न भाई और उसने यह बहाना बनाया कि पाण्डव १४ वर्ष पूर्ण होने से पूर्व ही प्रकट हो गए हैं, अतः उनको राज्य वापिस नहीं हो सकता। यह उत्तर सुन कर पाण्डवों ने युद्ध की तैयारी की। उन के पास अपनी सेना न थी। विराट् और द्रुपद आदि सम्बन्धियों ने अपनी अपनी सेनाओं और युद्ध सामग्री से उनको सहायता दी। श्रीकृष्ण भी पाण्डवों के सहायक बने। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व श्रीकृष्ण ने एक बार फिर स्वयम् कौरवों के पास जाकर सन्धि कराने का उद्योग किया। वे हस्तिनापुर पहुंच कर प्रथम विदुर के यहाँ वास करने वाली अपनी भुआ कुन्ती से मिले। कुन्ती ने उन को कौरवों का दुराग्रह और दुश्चरित्र सुना कर युद्ध की अवश्यम्भाविता बतलाई। उसने कहा:—

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।

अर्थ -क्षत्राणियाँ जिस लिए पुत्रों को उत्पन्न करतीं हैं उसका समय अब आ गया है।

श्रीकृष्ण ने कौरवों की राजसभा में जाकर कहा:—

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥

अर्थ—हे दुर्योधन! वीरों के नाश के विना ही कौरवों और पाण्डवों की शान्ति हो जाय, मैं यह याचना करने के लिए आया हूँ।

किन्तु दुर्योधन ने इस पर कुछ भी कान न दिया और यही कहा:—

सूच्यग्रं न प्रदास्यामि विना युद्धेन केशव।

अर्थ—हे केशव! बिना युद्ध के मैं सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा।

अन्त में विवश होकर श्रीकृष्ण वापस चले आए और दोनों सेनाएँ मारकाट करने के लिए कुरुक्षेत्र (वर्तमान थानेसर, ज़ि० करनाल) के मैदान में आमने-सामने आ डटीं।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के श्वेत घोड़ों वाले रथ के सारथि बन कर, उसको पाण्डव सेना के अग्रभाग में ला खड़ा किया। कौरववाहिनी के सेनापति १७० वर्ष के वृद्ध भीष्मपितामह भी अपने रथ में अपनी सेना के आगे आ उपस्थित हुए। दोनों सेनाओं ने अपने अपने जयघोष से स्वसेनापतियों का स्वागत किया। बहुत से शंखों के नादों, भेरियों और नगाड़ों की ध्वनियों, हाथियों की चिङ्घाड़ों और घोड़ों की हिनहिनाटों से आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। दोनों सेनाओं में वीर रस का पूर्ण संचार हो रहा था। इतने में अर्जुन को कौरव सेना में भीष्म, द्रोण आदि पूज्यों और निकट सम्बन्धियों को युद्ध में मरने मारने के लिए उद्यत देख कर मोह उत्पन्न हो गया। उसने श्रीकृष्ण से कहा कि जिस युद्ध में अपने महा-मान्यों और प्रियों का अपने हाथों से मुझ को हनन करना पड़ेगा, उसमें मैं प्रवृत्त न हूँगा। इस अवसर पर श्रीकृष्ण ने उसको उसके मोह-निवा-रण के लिए जो कर्मयोग का उपदेश दिया है, वही सारे उपनिषदों का सार कृष्णद्वैपायन की कीर्ति को अमर करने वाली 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। उसके विषय में नीचे लिखा हुआ प्रचलित पद्य सर्वथा यथार्थ ही है:—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृत महत्॥

अर्थ—सब उपनिषदें गौ हैं, श्रीकृष्ण उनका दुहने वाला है, अर्जुन उसका बछड़ा है, बुद्धिमान् लोग उस दुग्ध का उपभोग करने वाले हैं और गीतारूप महा-अमृत ही यह दुग्ध है।

इस क्षुद्र निबन्ध में श्रीमद्भगवद्गीता के गंभीर, किन्तु सरल, विस्तृत किन्तु सारभूत शास्त्रीय विषय के मर्म की पर्यालोचना के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है, इसलिए इस दुष्कर कार्य से विरत होना ही श्रेयस्कर है।

पाठक महाशय श्रीकृष्ण के स्मृति-दिवस श्रीमद्भगवद्गीता का पारा-यण कर सकते हैं। इसके आगे महाभारत का युद्ध किस प्रकार १८ दिन तक चलता रहा, किस प्रकार उसमें भारत के ज्ञानी, मानी वीर योद्धा

और गौरवधन एक एक करके धराशायी हुए, उसमें कैसे १ कूटनीति के कुचक्र चले और अन्त में यही युद्ध पापपुञ्ज के नाश के साथ १ भारत के सर्वनाश का भी कैसे कारण बना, यह विषय श्रीकृष्ण की पावनी जीवनी से नगण्य वा अतीव स्वल्प सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए उनका वर्णन करके इस लेख की कलेवर वृद्धि अभीष्ट नहीं है।

अन्त में श्रीकृष्ण ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अभिषिक्त करके अपने विशेष प्रीतिपात्र परममित्र अर्जुन के संग हस्तिनापुर के निकटवर्ती तीर्थों, वनों, पर्वतों और सर-सरिताओं की सैर के साथ २ तत्वज्ञानचर्चा और विविध विषयों के वार्तालाप का आनन्द उठा कर सब से प्रेमपूर्वक विदा लेकर सुभद्रा और कुन्ती सहित द्वारिका लौट आए। श्रीकृष्ण के द्वारिका लौटने पर उनके पौत्र अनिरुद्ध के विवाह की तैयारी हुई। विदर्भ के रुक्मी की भगिनी रुक्मिणी श्रीकृष्ण को विवाही थी। रुक्मी की पुत्री रुक्मवती से श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का विवाह हुआ था और उसकी पौत्री रोचना का विवाह श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ हुआ था। इस प्रकार यादव-वंशी श्रीकृष्ण और भोजवंशी रुक्मी में विवाह-सम्बन्ध तीन पीढ़ियों तक चलता रहा। परन्तु यह शारीरिक सम्बन्ध होते हुए भी रुक्मी से श्रीकृष्ण का पुराना विरोध बराबर चला आता था। एक दिन रुक्मी और बलराम में जुआ खेलते हुए झगड़ा हो पड़ा और बलराम ने वृद्ध रुक्मी का वहीं वध कर डाला। इस समय क्षत्रियों के सम्भ्रान्त राजवंश, चन्द्रवंश और उसकी शाखा यदुकुल आदि में द्यूत और मद्यपान आदि अनाचार इतने प्रबल हो रहे थे कि अन्त में उन्होंने उनका नाश करके ही छोड़ा। ऊपर द्यूत से महाभारत युद्ध के सूत्रपात और कौरव पाण्डवों के वंश विनाश की कथा वर्णित हो चुकी है। उससे कौरव वंश का तो सर्वथा मूलोच्छेद ही हो गया। पाण्डवों का भी कोई वंशधर जीता न बचा। द्रौपदी के पांचों पुत्र और सुभद्रा से उत्पन्न अर्जुन का पुत्र वीर अभिमन्यु भी इस युद्ध में काम आए। अभिमन्यु की

स्त्री उत्तरा पूर्व से गर्भवती थी। उसके एक मृतपुत्र उत्पन्न हुआ, जो कृष्ण के उपचारकौशल से जीवित होकर, और पाण्डवों के परिक्षीण वा निर्वंश होते हुए कुल को रक्षित वा चलाता हुआ रखने के कारण, परीक्षित नाम धारण करके पाण्डवों के हिमालय में चले जाने पर हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठा था। द्यूतकलह में ही विदर्भराज रुक्मी का वध भी ऊपर वर्णन किया जा चुका है। श्रीकृष्ण का यदुकुल भी मद्यपान के दुराचार के दुष्परिणाम से न बच सका। यद्यपि उसमें श्रीकृष्ण जैसे तत्वज्ञानी और योगिराज विद्यमान थे, परन्तु कुकर्मों के कुफल से कौन किसीको बचा सकता है? यदुकुल ने अपने दुष्कृत्यों का दण्ड पाया उसके सर्वनाश की कथा इस प्रकार है कि यादवों के दुराचारों के दुर्विपाक से द्वारिका में नाना प्रकार के आधिदैविक और आधिभौतिक उत्पात होने लगे। कभी वेगवती वात्या आती, कभी उग्र उल्कापात होता, कभी भयङ्कर भूकम्प आता। एकवार त्रयोदशी में अमावास्या का संयोग हुआ और उसीमें सूर्यग्रहण पड़ा। इस अवसर पर सारे यादव समुद्र में सरस्वती नदी के सङ्गमस्थान प्रभास तीर्थ में स्नान के मेले में गए। वहां की प्राकृतिक शोभा देख कर उन लोगों को मद्यपान की सूझी। बलराम, सात्यकि गद, बभ्रु, तथा कृत्यवर्मा आदि श्रीकृष्ण के सम्मुख ही निर्लज्ज हो कर मद्य पीने लगे। सब के सब क्षण भर में चुल्लू में उल्लू बन गए और परस्पर गाली-गलोच और मार-पीट करने लगे। इस शुष्क कलह ने बढ़ कर संग्राम का रूप धारण कर लिया और वहां एकत्रित भोज, अन्धक, यादव और श्रीकृष्ण के सारे पारिवारिक जन आपस में लड़ कर कट मरे। केवल स्त्रियां ही बचीं, जिनको श्रीकृष्ण ने द्वारिका पहुंचा दिया। यादवों का इस प्रकार संहार देखकर श्रीकृष्ण और बलराम द्वारिका को छोड़कर वन में तप करने चले गए। वहां बलराम ने योग द्वारा अपने प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकाल कर इस नश्वर शरीर को त्याग दिया। श्रीकृष्ण भी ब्रह्मासन लगाकर योगनिद्रा में वहीं लेटे थे। एक जरा नामक व्याध

ने दूर से उनको हरिण समझ कर, उनके बाण मारा, जो उनके पांव में आकर लगा और उसीसे उनका देहान्त हो गया। इस प्रकार वसुदेव-देवकी और नन्द-यशोदा के प्यारे पुत्र, गोकुल के गोपसखा गोपाल, मथुरा और वृन्दावन के प्राण, कंस, जरासन्ध, कालयवन, शिशुपाल आदि के काल, द्वारिका के विधाता, पाण्डवों के परित्राता, धर्म के उपदेष्टा, नीति के तत्ववेत्ता, राजा और प्रजा के गुरु, धर्मभ्रष्ट क्षत्रियकुल के संहारक, धर्मराज्य के संस्थापक, दीनों के उद्धारक, वेदशास्त्रपारङ्गत, चतुर-शिरोमणि, सर्वगुणागार, सकल-संसारादर्श, मृत्युञ्जय, योगीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने चारुचरित्र से संसार को मुग्ध करके १२५ वर्ष की अवस्था में इहलोक लीला संवरण की। उनके वृद्ध पिता वसुदेवजी इस दारुण शोक को न सह सके और इस संसार से चल बसे। सर्वत्र शोक की काली घटा छा गई। अर्जुन इस दुर्घटना की सूचना पाकर शोकसंतप्त होकर हस्तिनापुर से द्वारिका आए और श्रीकृष्ण के परिवार के बालकों और विधवाओं को अपने साथ हस्तिनापुर ले गए। मार्ग में किरातों ने उनकी सम्पत्ति लूट ली। महाभारत के महावीर योद्धा अर्जुन के गांडीव धनुष ने इस समय कुछ भी काम न दिया। सच है, प्रताप क्षीण होने पर सब सहायक निःसहाय हो जाते हैं। अन्त में उद्विग्न पांचों पाण्डवों ने भी हस्तिनापुर के राज्यसिंहासन पर अपने पौत्र परीक्षित को बिठला कर, और अपनी पुरानी राजधानी इन्द्रप्रस्थ का राज्य श्रीकृष्ण के प्रपौत्र अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को दे कर हिमालय के लिए महाप्रस्थान किया।

श्रीकृष्ण ने वीरयोद्धा के रूप में संसारक्षेत्र में प्रवेश करके, पूर्ण राजनीतिज्ञ, सुचतुर सेनापति और परम तत्वदर्शी के उज्ज्वल दृश्य दिखलाए। उनका स्वरूप श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित पद्यों में पूर्णरूप से चित्रित है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्;
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्वं परं योगिनाम्।

वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गङ्गतः साग्रजः ॥

अर्थ—कंस को मारने के लिए रणभूमि में उतरे हुए श्रीकृष्ण मल्लों को वज्र के समान, नरों को नरश्रेष्ठ के समान, नारियों को साक्षात् कामदेव के समान, गोपों को आत्मीय के समान, दुष्ट राजाओं को शासन-दण्डधारी सर्वश्रेष्ठ पुरुष के समान, वसुदेव-देवकी को शिशु के समान, कंस को काल के समान, अज्ञानियों को एक महाभीषण शक्ति के समान, योगियों को परमतत्व के समान और यादवों को परम देवता के समान प्रतीत होते थे। किन्तु श्रीकृष्ण की सर्वोत्कृष्ट परमतत्वज्ञान की शिक्षा है। श्री भाई परमानन्द जी के शब्दों में उनकी उपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीता को धर्म पुस्तक कहें वा दर्शन। श्री भाई जी को और वस्तुतः सारे विज्ञों को ये विषय श्रीमद्भगवद्गीता में एकत्र दिखाई देते हैं। उन का सार निकाल कर एक स्थान पर रख दिया गया है। श्रीकृष्ण ने उच्च तत्त्वज्ञान और असीम वैराग्य के साथ जो कर्मयोग का अनुपम उपदेश अर्जुन को दिया है, उस से उन का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और उन के प्रति श्रद्धा का भाव अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है।

संक्षीण-ऐश्वर्य, विलुप्त-वैभव और अवनत आर्यजाति को श्रीकृष्ण प्रभृति अपने महापुरुषों का ही अवलम्ब है। उन्हीं के सहारे वह श्वास ले रही है।

पद्धति

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी श्रीराम-जयन्ती में लिखित विवरण के अनुसार ही हैं। अर्थात् सामान्यप्रकरण के पश्चात् निम्नाङ्कित मन्त्रों से आहुति देवें—

(१) ओ३म् तेजोऽसि तेजोमयि धेहि स्वाहा।
(२) ओ३म् वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि स्वाहा।
(३) ओ३म् बलमसि बलं मयि धेहि स्वाहा।
(४) ओ३म् ओजोऽस्योजो मयि धेहि स्वाहा।

(५) ओ३म् मन्युरसि मन्युं मयि धेहि स्वाहा।
(६) ओ३म् सहोऽसि सहो मयि धेहि स्वाहा।

और जिस मल्लयुद्ध कला (कुश्ती) में श्रीकृष्ण सर्वोपरि सिद्धहस्त और पारङ्गत थे, उसका प्रदर्शन उनके स्मारक में किया जाय! अखाड़ों में मल्लकला के कौशल दिखलाए जांय। रात्रि वा सायंकाल के समय श्रीकृष्ण जयन्ती की स्मारक सभा करके उसमें श्रीकृष्ण गुणगान और उनके तत्व दर्शन श्रीमद्भागवद् गीता पर उत्तम भाषण हों वा निबन्ध पाठ हों।

श्रीकृष्ण

(१)

हे कृष्ण प्यारे! कौन जन, जिसको न तेरा ध्यान है?
वह कौन मन, जिसमें न तेरा शेष अब भी मान है?
है कौन शूर-समाज, जो गाता न तेरा गान है?
हे प्रिय हमारे! शक्ति तेरी का न किसको ज्ञान है?

(२)

ब्रज के सघन घन ओट में वह मधुरवंशी की ध्वनी,
यमुना नदी के तीरवाली गोपगण की मण्डली।
हे कृष्ण! हम भूले नहीं हैं आपकी वे सब छटा,
चाहे हमारे चित्त पर हो दुःख की दारुण घटा॥

(३)

उस सरस वंशी की ध्वनी का राग अद्भुत रससना,
वर प्रेम से पूरा, तथा सुखशान्ति का घर सा बना।
ब्रजभूमि के जल, पवन, वृक्षों में सुनाई दे रहे,
श्रीकृष्ण प्यारे नाम से दुख शोक सब का हर रहे॥

(४)

नीतिज्ञता सुविवेकता तेरी न किस पर ज्ञात है ?
वात्सल्यता अनुरागता तेरी न किस पर ज्ञात है ?
वर वीरता की छाप प्यारे है लगी तेरी यहाँ,
श्रीकृष्ण ! आप समान जग में और जन होंगे कहाँ ?

(५)

जो, कृष्ण प्यारे ! सत्य का अवलम्ब तुम लेते नहीं,
तो सत्य ही संसार का इतिहास होता कुछ कहीं।
कर्तव्य में रत फिर न होते सत्य सज्जन जानिये,
सत्यांश से भी सत्य का उठना ही निश्चय मानिये ॥

(६)

शिक्षा हमें यह आप बिन मिलती न कुछ संसार में,
कर्तव्य पथ पर निज रुधिर गिरता न हम से ताप में।
हे कृष्ण ! गीता बिन हमारा धैर्य बंधता ही नहीं,
जो कर्मयोग अलभ्य पथ है; आप बिन मिलता नहीं ॥

(७)

उपदेश जो श्रीकृष्ण ने हैं
ग्रन्थ 'गीता' में दिए,
हैं पाठ्य वे बालक-युवा—
वृद्धादि सब ही के लिए ॥

(८)

यह महाभारत-युद्ध में
दिखला दिया है कृष्ण ने।

"डिगना न चहिए सत्य से"
सर्वस्व बिगड़े या बने ॥

(९)

उपदेश जो श्रीकृष्ण का
यह सर्वथा ही ग्राह्य है।
भारत प्रजाओं के लिए,
सब भाव से निर्वाह्य है॥

(१०)

प्यारे हमारे हेतु, जो आदर्श तुम हो रख गए,
इस पुण्यपावन-देश की जो कीर्ति प्यारे कर गए।
सौभाग्य गुण की लालिमा का रत्न जो तुमने दिया
उसने हमारे देश में आलोक है फैला दिया॥

(११)

श्रीकृष्ण यश है छा रहा,
सर्वत्र भारतवर्ष में।
"कृष्णाष्टमी" "जन्माष्टमी"
हैं कह रहे सब हर्ष में॥

(श्री शिवनारायण द्विवेदी कृत)

विजया दशमी

आश्विन सुदि दशमी

हुआ प्रकृति का निर्मल जीवन,
स्वच्छ गम्य सब पन्थ गए बन।
विमल व्योम में छिटके तारे,
मुदित हुए हैं जिगमिषु सारे।

(श्री गिरिधर शर्म्मा नवरत्न)

विजयार्थी विजयार्थ चले हैं,
व्यापारी भी चल निकले हैं।
विजयादशमी दुन्दुभि बाजी,
नरपतियों ने सेना साजी।
क्षात्र-तेज से वीर भरे हैं,
वे उत्साह शक्ति-प्रेरे हैं।

(श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ कविरत्न कृत)

जगतीतल में भारतवर्ष ही एक ऐसा भूखण्ड है जहाँ वर्षा की ऋतु अन्य ऋतुओं से पृथक् होती है। अन्य देशों में शीत (जाड़ा) और उष्ण (गरमी) दो ही ऋतुएं (मौसिम) होती हैं। उन में ही समय समय पर वर्षा भी होती रहती है। किन्तु भारत में जाड़ा, गरमी और बरसात के तीन मौसिम वर्ष के चार चार मास रहते हैं। वर्षा के चातुर्मास्य (चौमासा) में वर्षा का इतना प्राचुर्य रहता है कि उस में बङ्गाल आदि

कई देशों में तो जल थल एक हो जाता है। भारत के अन्य प्रान्तों की नदियाँ भी बाढ़ से उमड़ पड़ती हैं। ताल तलैया जल से परिपूर्ण हो जाती हैं। आने जाने के सारे मार्ग कीचड़ और जल से भरे रहते हैं। चार मास तक शकट आदि (गाड़ी ताँगों) वाहनों का यातायात प्रायः रुका रहता है। किसान अपने गाड़ी तांगों को उडेल कर (पृथक् २ करके) रख देते हैं। प्राचीन भारत में तो, जब यहाँ सड़कों वा राजमार्गों की बहुतायत न थी, वर्षा काल में यात्राएँ बिलकुल ही बन्द रहती थीं। राजन्यवर्ग की विजय यात्रा और वैश्यों की व्यापार यात्रा वर्षा के चातुर्मास्य में रुकी रहती थी। वर्षा के अवसान पर जब शरद्दतु का प्रवेश होता था, तो इन अवरुद्ध यात्राओं का पुनः प्रारम्भ होता था।

अब नदियों को गाध (उथला) करती हुई, और मार्ग की कीचड़ों को सुखाती हुई, शरद्दतु का पदार्पण हो गया है। जलाशयों में कुमुदिनियाँ (कुई) खिल रही हैं। निर्वृष्ट (बरसे हुए) हलके मेघ सूर्य के मार्ग में से हट गए हैं, इसलिए उस का प्रताप चारों दिशाओं में फैलने लगा है। शरद्दतु की साम्राज्ञी श्वेत कुमुदिनी के छत्र और खिले हुए काँस के चमर से शोभा पा रही है। स्वच्छ चान्दनी आँखों को अतीव आनन्द देती है। स्थल पर हंसों की पंक्तियां, आकाश में ताराओं और जलाशयों में कुमुदिनियों पर श्वेतता छाई हुई है। ईखें बढ़ कर लम्बी और सघन हो गई हैं और उनके खेतों की छाया में मेंडों पर बैठे हुए गोपाल बाल मधुर गीत गा रहे हैं। अगस्त्य मुनि नामक तारे के उदय होते ही जलाशय स्वच्छ हो गए हैं। गाड़ियों के बैल वर्षा भर छूटे रह कर और यथेष्ट घास चर कर खूब तैयार हो गए हैं। उनके ठाँट मोटे होकर बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं। वे आनन्द से उन्मत्त होकर खोरू खोद रहे हैं—वप्रक्रीड़ा कर रहे हैं सींगों से नदियों की ढाँगों को ढा रहे हैं। शारद (सप्तपर्ण) वृक्ष के पुष्प खिल रहे हैं और उन में से हाथी के मद की सी गन्ध आ रही है। चारों ओर शरत्-श्री विराज रही है। ऐसे समय में ही, इन दिनों ही—

दिग्विजय यात्रा और व्यापार यात्रा के पुनः प्रारम्भ की तैयारियां होती हैं। विजय दशमी उत्सव का ससमारोह समारम्भ होता है। बरसात में जंग लगे हुए योद्धाओं के खड्गादि शस्त्र और कवच संघर्षण द्वारा (सैकल करके) स्वच्छ और शाणित किये जाते हैं, जिनकी चमक आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करती है। अश्वों और हाथियों की सज्जा सामग्री (वल्गा = लगाम, प्रयाण = पलान आभूषण और हौदे आदि) का संस्कार और सुधार किया जाता है। चतुरङ्गिणी सेनाएँ सुसज्जित की जाती हैं।

वैश्यों (कृषाणों और व्यापारियों) के चार मास से उडले पड़े हुए शकटादि वाहन धावन (धोने और पोंछने) और तैल मर्दनादि द्वारा बांध जूड़ कर यात्रा योग्य सन्नद्ध किए जाते हैं तथा व्यापारियों की दूकानों पर लेखनी, मसिपात्र, आदि लेखक-उपकरण स्वच्छ किए जाते हैं, और नये बहीखाते और बसने बदले जाते हैं। संक्षेपतः प्रत्येक व्यवसायी अपने उपकरणों का परिमार्जन और सन्नहन (Equipping) करता है। इन सारे कार्यों की तैयारी आश्विन सुदि प्रतिपदा से आरम्भ करके आश्विन सुदि विजया दमशी तक पूरी हो जाती है। इस लघु लेखक को स्मरण है कि उसकी बाल्यावस्था में उसके पिता के यहाँ विजया दशमी से एक सप्ताह पूर्व से शस्त्रों के सैकल का कार्य होता रहता था।

विजय दशमी के दिन यज्ञशाला के द्वार देश में सुसज्जित सशस्त्र चतुरङ्गिणी (अश्व, हस्ती, रथ तथा पदाति) को क्रमबद्ध खड़ा करके उस की नीराजनाविधि की जाती है। नीराजनाविधि में स्वस्ति और शान्ति वाचन पूर्वक बृहद्धोम यज्ञ होता है, जिसमें क्षात्र धर्म के वर्णन परक मन्त्रों से विशेष आहुतियाँ दी जाती हैं। कवि कुलगुरु महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में सर्यवंशी महाराज रघु की नीराजनाविधि का निम्नलिखित पद्य में कैसा सुन्दर वर्णन किया है:—

तस्मै सम्यग्घुनो वन्हिर्वाजिनं'राजनाविधौ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनैव जयं ददौ॥ रघुवंश, चतुर्थ सर्ग, २५वां श्लोक॥

अर्थ—महाराज रघु, जो अश्वादि की नीराजनाविधि कर रहे थे, उसमें भले प्रकार होम की हुई अग्नि की ज्वाला दक्षिण ओर को जो बल खा खाकर लपट ले रही थी, प्रज्वलित हो रही थी, उसमें कविकुलगुरु उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो वह अपने दाहिने हाथ से रघु को जय प्रदान कर रही थी।

नीराजना का शुभानुष्ठान भावी विजययात्राके लिए शुभाशंसी वा शुभसूचना माना जाता था।

वैश्यवर्ण वा अन्य व्यवसायी भी इसी प्रकार अपने व्यवसाय के वाहन आदि उपकरणों को सुसज्जित और परिमार्जित रूपमें यज्ञशालाओं में क्रमबद्ध उपस्थित करके नीराजना का अनुष्ठान करते थे। यह कृत्य पूर्वाह्न में होता था। सायंकाल के समय राजन्यगण अपनी सज्जित सेना सहित सजधज से विजय यात्रा का नियमबद्ध उपक्रम करते थे। वैश्य भी अपने वाहनों में बैठ कर इसी प्रकार व्यापारयात्रा का प्रारम्भ सूचक अनुष्ठान करते थे। विजया दशमी के दिन से दिग्विजययात्रा और व्यापारयात्रा निर्बाध चल पड़ती थी। इहीं प्राचीन दिग्विजय यात्राओं का स्मारकरूप में अवशेष आजतक सायंकाल के समय ग्रामसीमोल्लंघन-यात्रारूप से भारत के महाराष्ट्र आदि अनेक प्रांतों में प्रचलित है।

इस अवसर पर प्रजाएँ अपने प्रभुवों की सेवा में रोकड़ा रुपय के रूप में उपायन (भेंट प्रस्तुत) करती थीं और वे भी उनको बहुमूल्य उपहार और पारितोषिकों से पुरस्कृत करते थे।

जन साधारण में इस समय परस्पर एक दूसरे के गृह पर जा कर मिलने भेंटने की प्रथा का भी प्रचार था। इस से जहाँ वर्ष भर के मिथो-मनोमालिन्य वा मनमुटाव को मेटना अभिप्रेत था वहाँ दीर्घयात्रा पर जाने से पूर्व वयस्कों, सम्बन्धियों और सन्मित्रों का अन्तिम साक्षात्कार भी उद्दिष्ट था।

वैदिक युग वा प्राचीन काल में विजयादशमी का शुद्ध स्वरूप इतना

ही प्रतीत होता है। पीछे से इस पर्व के आनन्दावसर पर श्रीरामचन्द्र के भव्या-भिनय वा रम्य रामलीला के प्रदर्शन का प्रचार चल पड़ा। ऐसे मङ्गलावसरों पर शिक्षाप्रद नाटकों के खेलने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। पौराणिक काल में पर्वावसरों पर दृश्यकाव्यके कौशल दर्शन का बहुत प्रचार था। करुणारस के दीक्षागुरु महाकवि भवभूति का प्रसिद्ध उत्तररामचरित नाटक उज्जयिनी में भगवन् कालप्रियनाथ के यात्रोत्सव पर ही सर्वप्रथम खेला गया था। इन नाटकों के दर्शन से जनता मनोरञ्जन के साथ ही साथ परमोपयोगी उपदेश भी ग्रहण करती थी, किन्तु काल के कुचक्र से रामलीला आदि अभिनयों का स्वरूप विकृत होकर बिलकुल उलट पलट गया। उस से जन साधारण में सुरुचि संचार और सदुपदेशप्रदान के स्थान में कुरुचि और कुसंस्कारों का संक्रमण होने लगा। उन से नाना प्रकार की मिथ्या भावनाओं और कपोलकल्पित कहानियों का सूत्रपात हो गया। उदाहरणार्थ लोग हनूमान् और सुग्रीव को साक्षात् बन्दर समझने लगे हैं। दीर्घकाल से विजया दशमी के पर्व पर रामलीला के रचे जाने के कारण जनता में यह मिथ्या धारणा बद्धमूल होगई है कि विजयादशमी के दिन मर्यादापुरुषोत्तम सूर्यवंशावतंस श्री रामचन्द्र ने राक्षसराज रावण का वध करके लङ्का पर विजय प्राप्त की थी। बाल्मीकिरामायण तथा अग्निवेशरामायण और पद्मपुराण के पाताल खण्ड के अवलोकन से इस चिरकालीन कल्पना का नितान्त निराकरण होता है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुसार श्री पं० हरिमंगल मिश्र एम० ए० कृत प्राचीन भारत के परिशिष्ट में जो राम चरित की घटनाओं की तिथियों की दो जन्त्रियां दी गई हैं उन से रावण वध की तिथियाँ क्रमशः वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और उक्त ग्रन्थ में ही उद्धृत पं० महादेवप्रसाद त्रिपाठी कृत 'भक्ति विलास' के आधार पर फाल्गुन सुदि एकादशी गुरुवार ज्ञात होती है। श्री पं० हरिशंकरजी दीक्षित अपनी त्यौहार पद्धति में इस विषय में इस प्रकार लिखते हैं कि "रामायण का कथन इस विश्वास का विरोध

करता है । बाल्मीकि रामायण में यह स्पष्ट लिखा है कि आज के दिन महाराज रामचन्द्र ने पंपापुर से लङ्का की ओर प्रस्थान किया और चैत्र कृष्ण अमावस्या को रावण का वध कहा गया है । इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि श्री महाराज रामचन्द्र की विजय-तिथि चैत्र कृष्ण अमावस है। आश्विन शुक्ला दशमी को श्री महाराज रामचन्द्र का विजय दिन मानना बाल्मीकि रामायण से तो सिद्ध होता नहीं और न गुंसाईं तुलसीदास कृत रामायण से यह सिद्ध होता है कि यह दशमी श्री रामचन्द्रजी की जय की तिथि है । भाषा की रामायण से भी यह विदित होता है कि वर्षा ऋतु के चार मास पर्यन्त रामचन्द्रजी का निवास पम्पापुर ही में रहा । वर्षा ऋतु के बीतने पर श्री हनूमानज़ी सीतादेवी की खोज में गए हैं । इसके पश्चात् ही श्री रामचन्द्रजी का जाना विदित होता है । अतएव जनता का यह विश्वास कि श्री रामचन्द्रजी ने आश्विन शुक्ला दशमी को रावण का बध किया है निर्मूल प्रतीत होता है ।"

उपर्युक्त अवतरणों से पूर्ण प्रमाणित होता है कि कम से कम विजया दशमी रावण वध और लंका विजय की तिथि नहीं है । फिर इस मिथ्या कल्पना की उद्भावना किस प्रकार हुई ? ऐसा अनुमान होता है कि विजया दशमी से दस दिन पूर्व जो रामलीला का आरम्भ होकर उसकी समाप्ति विजया दशमी के दिन की जाती थी और उसी दिन रावण वध की लीला दिखलाई जाती थी और उस को उस दिग्विजय यात्रा के दिन भावी शत्रु मर्दन और विजय का शुभसूचक चिह्न समझा जाता था, उस से जनता में यही विचार बद्धमूल हो गया कि वस्तुतः आज के दिन ही श्री राम चन्द्रजी द्वारा रावण का हनन हुआ था । भविष्योत्तर पुराण में विजया दशमी के दिन शत्रु का पुतला बना कर उसके हृदय को बाण से वेधने का विधान लिखा है । संभव है कि पीछे से यह पुतला रावण का रूप समझा जाने लगा हो और उस को रामलीला के राम के हाथ से बध कराने की प्रथा चल निकली हो । विजयादशमी के दिन श्रीरामचन्द्र की लंका विज-

यार्थ प्रस्थान की धारणा भी निराधार प्रतीत होती है, क्योंकि प्राचीन भारत ग्रन्थ की उक्त जंत्री के अनुसार यह तिथि पौष बदि नवमी, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र सूचित होती है।

विजया दशमी के दिन अपराजिता देवी के पूजन की उद्भावना भी पौराणिक काल में ही हुई थी। इसका स्रोत स्यात् सरस्वती वा वाग्देवी की आकृति के समान कविकल्पना प्रसूता अपराजय वा विजय की अपराजिता नाम्नी देवी के रूपक की मूर्ति की कल्पना में विद्यमान हो, क्योंकि पौराणिकी षोडशोपचार पूजा का सूत्रपात कविकल्पित रूपकों से ही हुआ है। अपराजिता का ही अपभ्रंश पाँयर्ता प्रतीत होता है, जो विजयादशमी का नामान्तर प्रसिद्ध है। भारत के अज्ञानान्धकार काल में इस अपराजिता देवी ने चण्डी तथा कालिका आदि के अनेक नामों और रूपों से इतना प्राबल्य पाया कि उसकी पूजा ने विजया दशमी के वास्तविक स्वरूप नीराजना विधि को बिलकुल ढाँप लिया और इस कपोलकल्पित महा भयंकरा कालिका और चण्डी की रक्त पिपासा इतनी बढ़ी कि उसकी मूर्ति के सामने इस पवित्र अवसर पर पुरुष से लेकर भैंसों और बकरों तक असंख्य प्राणियों की बलि होने लगी। विजयादशमी के दिन राजपूताने और महाराष्ट्र की भूमि निरपराध पशुओं के रक्त से लाल हो जाती थी। सन्तोष का विषय है कि दया धर्म के प्रचारकों के उद्योग से अब यह जघन्य अत्याचार कुछ रजवाड़ों और स्थानों में बन्द हो गया है, परन्तु आर्य धर्म के सेवकों के सामने अभी बहुत कुछ कार्य पूरा करने को शेष है। आर्य पुरुषों का परमकर्तव्य है कि वे संसार से एवं विविध अनाचारों का लोप करके विजयादशमी आदि पवित्र पर्वों के शुद्ध और सनातनस्वरूप का जनता में पुनः प्रचार करें और भारत के प्राचीन इतिहास का भी शोध करके वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं की शुद्ध तिथियों को जनसाधारण में प्रचारित करें। तभी वे अपने वैदिकधर्मावलम्बी आर्य नाम को सार्थक कर सकते हैं।

पद्धति

यद्यपि आज कल रेलों और मोटरों के रात दिन दौड़ते रहने और देश के अधिकाँश भागों में पक्की सड़कों की विद्यमानता के कारण यातायात वर्ष भर बराबर चलता रहता है और वर्षा ऋतु में बन्द नहीं होता है और न प्राचीन काल के समान वर्षा ऋतु के व्यतीत होने पर विजयादशमी के दिन दिग्विजय और व्यापार यात्राओं का प्रारम्भ होता है और विजया दशमी की उस प्रकार की प्रयोजनीयता अब नहीं रही है, तथापि आर्यों के सनातन सम्प्रदाय समागत और परम्परा प्राप्त पवित्र पर्वों का लोप नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त चाहे अब भारतीय आर्य सन्तानों को पूर्व के समान यथेष्ट शस्त्रास्त्र रखने की स्वतन्त्रता प्राप्त न हो (तलवार, तीर कमान, भाले और फरसे तो अब भी यथेच्छ रख सकते हैं) तो भी क्षात्र धर्म के विकासार्थ एक विशेष पर्व का प्रयोजन अवश्य है और वर्षा ऋतु के पश्चात् जङ्ग लगे हुए शस्त्रों की स्वच्छता, रथ तथा शकटादि यानों और घोड़े हाथियों की सज्जासामग्रियों तथा अन्य संस्कार और सुधार के लिये एक विशेष नियत दिन की अनिवार्य आवश्यकता है, इसलिए विजया दशमी के अवसर पर यह कार्यकलाप सुचारु रूपेण सम्पन्न हो सकता है। इसकी पद्धति यह होनी चाहिये कि स्वसुभीते के अनुसार विजयादशमी के पूर्व दिन वा प्रातःकाल शस्त्र और वाहनादि का संस्कार (स्वच्छता और सुधार) किया जाय। पूर्वाह्न में अन्य पर्वों के समान गृह का परिमार्जन और लोपनादि करके सामान्य होम किया जाय। उसमें क्षात्र धर्म के द्योतक और यात्रा से लाभ के सूचक निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुतियाँ दी जाँय। इस अवसर पर संस्कृत अस्त्र और परिष्कृत उपकरण भी यज्ञ स्थल में उपस्थित किए जांय।

(१) संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्। संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ स्वाहा॥ १॥

(२) सहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् । वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ स्वाहा ॥ २ ॥

(३) नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् । क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ स्वाहा ॥ ३ ॥

(४) तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत । इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ स्वाहा ॥ ४ ॥

(५) एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि । एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ स्वाहा ॥ ५ ॥

(६) उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः । पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् । देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ स्वाहा ॥ ६ ॥

(७) प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः । तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ स्वाहा ॥ ७ ॥

(८) अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसंशिते । जयामित्रान् प्रपद्यस्व जह्येषां वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ स्वाहा ॥ ८ ॥

अथर्ववेद, काण्ड ३, सूक्त १९, मन्त्र १–८ ॥

(९) ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च । असीन्परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि । सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥ स्वाहा ॥ १ ॥

(१०) उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ स्वाहा ॥ २ ॥

(११) उत्तिष्ठतमारभेथां आदानसंदानाभ्याम । अमित्राणां सेना अभिधत्तमर्बुदे ॥ स्वाहा ॥ ३ ॥

अथर्ववेद, काण्ड ११, मन्त्र १-३ ॥

मध्याह्न में स्वादु और सात्त्विक व्यञ्जनों से भोजनशाला की श्री वृद्धि होनी चाहिये। आज के दिन लौकी के रायते के आहार की प्रथा है सो ऋतु के नवभोज्य के द्रव्य के समादर के रूप में समुचित ही है।

सायङ्काल को सब इष्टमित्रों को मिलकर नव-वेषभूषा और शस्त्रों से सुसज्जित होकर अपने २ वाहनों या पैदल बस्ती के बाहर कुछ दूर तक यात्रा करनी चाहिए। इस अवसर पर खड्गसञ्चालन से लक्ष्यवेध तथा गदकाफरी आदि अस्त्राभ्यास के कौतुकों का प्रदर्शन होना चाहिए। बल-विक्रमहीन आर्यजाति में इस समय शक्तिसञ्चय और शौर्यसञ्चार की बड़ी आवश्यकता है। विजयादशमी के अवसर पर जो रामलीला के अभिनय यत्रतत्र होते हैं, उनका सुधार भी अपेक्षित है। यदि आर्यपुरुषों के प्रभाव और प्रयत्न से उनको उपयोगी और यथार्थ रूप दिया जा सके तो इसके लिए भी अवश्य उद्योग होना चाहिए।

शारदीय नवसस्येष्टि

(दीपावली)

श्रीमद्दयानन्द निर्वाण

कार्तिक वदि अमावस्या

शारदीय शुभ शस्य सुहाई, अद्भुत सुन्दरता सरसाई।
मुद्‌ग, माष, तिल, शालि चुलाई, जन-मन भरते मोद-बढ़ाई।
लिपे पुते घर हैं छवि छाये, दीपावलि की ज्योति जगाये।
नवान्नेष्टि सज्जन करते हैं, शुद्ध गन्ध घर घर भरते हैं।
थल २ में रम रही रमा है, सदन सदन सुसमृद्धि सना है।

(श्री सिद्धगोपाल कविरत्न)

आनन्द सुधासार दयाकर पिला गया।
भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया॥
"शंकर" दिया बुझाय दिवाली को देह का।
कैवल्य के विशाल-वदन में बिला गया॥

(कविवर नाथूराम शंकर कृत)

आज शरदृतु की समाप्ति में केवल पन्द्रह दिन शेष हैं। पन्द्रह दिन पीछे सर्वत्र हेमन्त ऋतु का राज्य होगा और शीत का शासन सब को स्वीकार करना होगा। वर्षा के वीतने और शीत लगने पर जनता को

कुछ विशेष समारम्भ (तैयारियाँ) करने पड़ते हैं। वर्षा ऋतु में वृष्टिबाहुल्य से वायुमण्डल तथा घर बार विकृत मलिन और दुर्गन्धित हो जाते हैं। बर्सात के अन्त में उन की संशुद्धि और स्वच्छता की आवश्यक्ता होती है। वायुमण्डल का संशोधन हवन-यज्ञ से होना है और घरबार की स्वच्छता लिपवाई पुताई से की जाती है। अब ही भावी शीत निवारण के लिए गरमवस्त्रों का प्रबन्ध करना होता है। इसी समय सावनी की फ़सल का आगमन होता है। किसान के आनन्द की सीमा नहीं है। उसका घर अन्न-धान, माष, मूँग, बाजरा, तिल और कपास से भरपूर होने को है। इस अवसर पर श्रौत और स्मार्त सूत्रों में गोभिलगृह सूत्र, तृतीय, प्रपाठक सप्तम खण्ड, ७ = २४ सूत्र पारस्कर-गृहसूत्र द्वितीय काण्ड १७ वीं कण्डिका, १—१८ सूत्र, आपस्तम्बीय गृहसूत्र १९ खण्ड, मानवगृह्यसूत्र तृतीय खण्ड तथा ता मनुस्मृति के—

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तायर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।

अध्याय० ४ श्लोक २६ ॥

इस पद्य में नवसस्येष्टि वा नवान्नेष्टि (नव = नवीन—सस्य = फ़सल वा खेती—इष्टि = यज्ञ, अर्थात् नवीन फ़सल के अन्न का यज्ञ) करने का विधान है। इन सब कार्यों के लिए पर्व कार्तिक बदि अमावस्या तिथि को प्राचीन काल से नियत चला आता है उस को दीपावली भी कहते हैं। वैसे तो प्रत्येक अमावस्या को दर्शेष्टि यज्ञ कर्म काण्ड ग्रन्थों में विहित है, किन्तु कार्तिकी अमावस्या को दर्शेष्टि और नवसस्येष्टि दोनों इष्टियों के विधान हैं, क्योंकि उन से इस अवसर पर वर्षा ऋतु में विकृत वातावर्त की विशेष संशुद्धि अभीष्ट है। वर्षा के अवसान पर दलदलों के सड़ने, मच्छरों के आधिक्य तथा आर्द्रता (नमी) के कारण ऋतु-ज्वर (मौसिमी मलेरिया बुखार) आदि रोग बहुत फैलते हैं। इसलिए इस ऋतु के शारदीय पौर्णिमा, विजयादशमी और दीपावली इन तीन पर्वों के होम, यज्ञों से उन रोगों का अनागत—प्रतीकार भी अभिप्रेत है।

जैसे शारदीय आश्विन पूर्णिमा की चाँदनी वर्ष भर की बारह पौर्णमासियों में सर्वोत्कृष्ट होती है, उसी प्रकार कार्तिकीय अमावस्या का अन्धकार वर्ष की बारह अमावस्याओं में सघनतम होती है। इस अमावस्या के अन्धकार पर मृच्छकटिककार शूद्रक कवि की निम्नलिखित उक्ति पूरी उतरती है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनंनभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

अर्थ—अंधियारी अङ्गों पर पुत-सी गई है, आकाश अञ्जन-सा बरसा रहा है, दृष्टिशक्ति इस प्रकार निष्फल (बेकार) हो गई है, जिस प्रकार असज्जन की सेवा व्यर्थ जाती है।

ऐसी घनी अन्धियारी रात्रि में, नवीन सावनी सस्य के आगमन से प्रमुदित कृषिप्रधान भारतवर्ष में मानो वर्ष की प्रथम उक्त सस्य (फ़सल) के स्वागत के लिए दीपमाला का उत्सव मनाया जाता है। यह दीपमाला भी गृहों की वर्षाकालीन आर्द्रता के संशोषण से उनके संशोधन में सहायक होती है।

आज राजप्रासाद से लेकर रङ्ककुटीर तक की शोभा अपूर्व है। प्रत्येक नगर और ग्राम का प्रत्येक आर्य घर परिमार्जन और सुधा (कलि और चूना) वा पिंडोल मृत्तिका के लेपन से श्वेतरूप धारण किए हुए है। प्रत्येक अट्टालिका, आंगन और कक्ष्या (कोठरी) में दीपपंक्ति जगमगा रही है। धनियों के बहुमूल्य काचमय प्रकाशोपकरणों (झाड़ फ़ानूस आदि शीशे आलाय) से ले कर दीनों के दीवलों (मृण्मय तेल के छोटे-छोटे दीपकों) तक की कृत्रिम ज्योति प्रकृति के प्रगाढ़ान्धकार से स्पर्द्धा (होड़ाहोड़ी) कर रही है। पुरुषोत्तमप्रिया के कृपापात्रों के भवन नाना व्यञ्जनों और विविध मिष्टान्नों की सरस सुगन्ध से परिपूर्ण है, तो लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष से वञ्चित दीनालय धान्य की खीलों से ही सन्तुष्ट हैं। संक्षेपतः आज प्रत्येक आर्य परिवार ने अपने गृह को स्वविस्तानुसार

मनोहर बनाने का भरपूर प्रयत्न किया है। इसका कारण यह है कि चिरकाल से प्रायः प्रत्येक आर्य सन्तान के हृदय में यह विश्वास बद्धमूल है कि आज की महारात्रि में महालक्ष्मी (धन की देवी) भ्रमण करने निकलती है और जिस सदन को सब से सुन्दर पाती है, उसी को वर्ष भर के लिए अपना आवास बना लेती है—उस में वर्ष भर तक समृद्धि (धनधान्य) का वास रहता है। इस विश्वास का मूलस्रोत यही होगा कि मानसशास्त्र के तत्ववेत्ता भारतवासी शोभा और समृद्धि तथा दारिद्र्य और दीनता के अन्योन्याश्रय वा समवायसम्बन्ध से पूर्ण परिचित थे। वे भले प्रकार जानते थे कि शोभनीय स्थानों में ही समृद्धि रहती है, अथवा समृद्धि के स्थान में शोभा स्वयमेव आन विराजती है। इस के विपरीत दारिद्र्य वा मालिन्य में दीनता का वास रहता है, वा दीनता की विद्यमानता में दारिद्र्य आप ही आ जाता है। वस्तुतः लक्ष्मीदेवी शोभा और समृद्धि के कविकल्पित रूपक की ही एक मूर्ति है। आज वर्ष की प्रथम शस्य श्रावणी शस्य के शुभागमन के अवसर पर गृहों को शोभा और समृद्धि के आवासयोग्य बनाना स्वाभाविक और समुचित ही था। यही लक्ष्मी की पूजा थी, क्योंकि पूजा का वास्तविक भाव योग्य को योग्य स्थान प्रदान ही है। आज नवशस्य के शुभागमनावसर पर शोभा और समृद्धि को उसका योग्य स्थान प्रदान—शोभा की समुचित स्थान और अवसर पर स्थापना ही—उस की वास्तविक पूजा है। किन्तु तत्व के परित्याग और रूढ़ि की आरूढ़ता के युग पौराणिक काल में लक्ष्मीपूजा का यह तत्वांश अन्तर्दृष्टि से तिरोहित हो गया और उसके स्थान में उलूकवाहना को षोडशोपचार-पूजा प्रचलित हो गई। उस के वाहन (मूढ़ता के साक्षात् स्वरूप उल्लू महाराज) ने उसके उपासकों की बुद्धि पर ऐसा अधिकार जमाया कि वे अपनी उपास्य देवी के पदार्पण की प्रतीक्षा में दिवाली की सारी रात जागरण (रतजगा) करते हैं। प्रायः बुद्धिविशारद भक्तशिरोमणि तो निद्रा के

अपसारण के लिए रात्रि भर द्यूतक्रीड़ा में रत रहते हैं। मनः कल्पित लक्ष्मी की प्रतीक्षा करते हुए भी साक्षात् लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) को वे द्यूत द्वारा दुतकारते हैं—तिरस्कार पूर्वक उस को घर से धक्का देते हैं—'अक्षैर्मा दीव्यः' इस अथर्ववेद की कल्याणी वाणी का प्रत्यक्ष प्रतिवाद वा अनादर करते हैं।

आजकल के कलि काल में वैदिककालीन पर्व शारदीय नवसस्येष्टि तथा दर्शेष्टि का तो सर्वथा लोप हो गया है और केवल उस के बाह्य आडम्बर गृहपरिशोधन, परिमार्जन, दीपपंक्ति-(दीपावली = दीपमाला) प्रकाशन, मिष्टान्न तथा लाजा वितरण और घोर अविद्यान्धकार काल में प्रचारित द्यूत, दुराचार आदि उस के अनुषङ्गिक उपचार शेष रह गए हैं। नवान्नेष्टि के चिह्न होम तक की परिपाटी प्रायः उठ गई है। शायद ही किन्हीं विरले सौभाग्यशाली गृहों में आज की रात्रि में होम होता होगा। हां, कहीं २ गुग्गुल की धूप जलाने की रीति अवश्य प्रचलित है, जो प्रशंसनीय है।

दीपावली के विषय में भी विजया दशमी के समान एक यह कल्पित कथा चल पड़ी है कि इस दिन मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र वनवास से लौट कर अपनी राजधानी अयोध्या में वापिस आए थे और उन की प्रजाने उस हर्षोत्सव के उपलक्ष्य में आज दीपावली की थी। उस का अनुकरण वर्तमान दीपावली चली आती है। विजया दशमी के विवरण में इस प्रसंग के उल्लिखित ऊहापोह से भले प्रकार प्रगट होता है कि यह विचार भी सर्वथा कपोलकल्पित है, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी रावणवध और लङ्का विजयानन्तर ही तत्काल अयोध्या लौट आए थे और जब उक्त विवेचनानुसार रावणवध फाल्गुन वा वैशाख में हुआ था तो श्रीराम चन्द्रजी का अयोध्याप्रत्यागमन कार्तिक मास में किस प्रकार संभव है। प्रतीत होता है कि दीपावली की दीपमाला के प्रकाश से श्रीरामचन्द्रजी के अयोध्याप्रत्यागमन के हर्षोत्सव की कल्पना किसी कल्पनाकुशल मस्तिष्क

में हुई हो और उसी से यह दन्तकथा सर्वसाधारण में प्रचलित हो गई हो। वैदिक धर्मावलम्बी आर्य सामाजिक महाशयों का परम कर्तव्य है कि जहाँ वे इस प्रकार की ऐतिहासिक तत्व की तिरोधायक कपोलकल्पनाओं का निरसन करें, वहाँ शारदीय नवसस्येष्टि के वैदिक पर्व का प्रत्यावर्तन कर के, उस के गृहसंशोधन और दीपावलीप्रकाशन आदि अनुषंगों के सहित आगे पद्धतिप्रदर्शित प्रकारानुसार उस के स्वरूप का आर्य जनता में प्रचार करें।

जैसा कि पर्वप्रादुर्भाव परिचय के प्रकरण में विवेचना की गई है, आर्यों का एक २ पर्व किसी विशेष कृत्य के लिए उद्दिष्ट है और इस प्रकार उस का सम्बन्ध किसी न किसी एक विशेष वर्ग के साथ स्थापित है। जिस प्रकार वैदिक धर्म की चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रमव्यवस्था चराचर जगत् में व्याप्त है, उसकी व्याप्ति केवल मनुष्यमात्र में ही नहीं है, प्रत्युत तिर्यग्योनियों और उद्भिजों में भी गुणकर्मानुसार वर्ण और आश्रम विद्यमान हैं–पशुओं में गौ और वनस्पतियों में अश्वत्थ (पीपल) ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत हैं। इस विषय का यहाँ अधिकतर विस्तार, प्रकरणान्तर प्रवेश का दोषावह होगा, इसलिए संकेतमात्र इतना ही पर्याप्त है—इसी प्रकार आर्यों के पर्वों में भी चातुर्वर्ण्यव्यवस्था पाई जाती है। श्रावणी उपाकर्म, स्वाध्याय से सम्बद्ध होने के कारण, ब्राह्मण पर्व है। लोक में भी श्रावणी (सलूनो) ब्राह्मणों का पर्व कहलाती है। विजयादशमी क्षत्रियों की दिग्विजययात्रा और क्षात्रधर्म के विकास से संबन्ध रखने के कारण, क्षत्रिय पर्व है और जनसाधारण भी उस को क्षत्रियों का पर्व कहते हैं। शारदीय नवसस्येष्टि वा दीपावली के पर्व का विशेष सम्बन्ध वैश्यकर्म (कृषि, वाणिज्य और उन की अधिष्ठात्री समृद्धि की देवी लक्ष्मी) से है, इसलिए दीपावली वैश्य पर्व है और लोग भी उस को वैश्यों का पर्व मानते हैं। शूद्र-पर्व होली का वर्णन उस के प्रकरण में यथास्थान होगा। दीपावली के अवसर पर,

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है नवीन सावनीसस्य के अन्न से होम होता है। नवीन अन्न की लाजा (खीलें) और मिष्टान्न बांटे जाते हैं। इसी अवसर पर व्यवसायी जन अपने बहीखातों का नवीन वर्ष आरम्भ करते हैं। आढ़त की दूकानों पर नए बहीखाते दीपावली से ही बदले जाते हैं। यह सब बातें इस पर्व का वैश्यत्व पूर्णरूपेण स्थापित करती हैं। परन्तु जिस प्रकार चारों वर्ण और उन के गुण कर्म मुख्यतः पृथक् २ होते हुए भी, गौण रूप से एक दूसरे के गुण कर्मों का समावेश चारों वर्णों में रहता है—ब्राह्मण वर्ण की सम्पत्ति स्वाध्याय, क्षत्रिय वर्ण की शूरता, वैश्य की समृद्धि और शूद्र का सेवाधर्म न्यूनाधिक चारों वर्णों के पुरुषों में पाया जाता है—उसी प्रकार हमारे पर्व भी विशेष वर्ग से सम्बन्ध रखते हुए भी, सर्वसाधारण के सम्मिलित (साझले) पर्व भी हैं।

किन्तु इस दीपमाला की महारात्रि का महत्व एक महा घटना ने और भी बढ़ा दिया। इसी के सायंकाल विक्रमी सं० १९४० तदनुसार ३० अक्टूबर सन् १८८३ ई० मंगलवार को वीर विक्रम की २० वीं शताब्दी के अद्वितीय वेदोद्धारक और वर्तमान आर्यसमाज के संस्थापक तथा आचार्य महर्षि दयानन्द की उच्च आत्मा ने इस नश्वर शरीर का परित्याग करके जगज्जननी के क्रोड में आश्रयण का आनन्द प्राप्त किया था। महापुरुषों का देहावसान साधारण मनुष्यों की मृत्यु के समान शोकजनक और रुलाने वाला नहीं होता। उनका प्रादुर्भाव और अन्तर्धान दोनों ही लोककल्याण और आनन्द प्रदान के लिए होते हैं। महापुरुषों का इस लोक में आगमन तो लोकाभ्युदय के लिए प्रत्यक्ष ही है। किन्तु उनका इहलोकलीलासंवरण भी आनन्द का हेतु होता है। वे परोपकार में अपने प्राणों को अर्पण करते हैं। संसार के सुख के लिए अपने शरीर की बलि देते हैं, इसलिए जनता उनके बलिदान पर उनकी कीर्तिकीर्तन और गुणगान करके एक प्रकार का आनन्दानुभव करती है। उनका बलिदान स्वयं जनता के लिए

परोपकारार्थं देहोत्सर्ग का उत्तम आदर्श स्थापित करके, जनता में अनुकरणीय उदाहरण तथा सत्संप्रदाय का प्रवर्तन और सुख का संयोजन करता है। इस पाञ्चभौतिक शरीर को त्यागते हुए उनकी आत्मा स्वयं भी सन्तोष और आनन्द लाभ करती है। सन्तोष इसलिए कि वे अपने इस लोक में आने का उद्देश्य पूर्ण करते हुए अपने इस लोक के जीवन को परोपकार में विसर्जन कर रहे हैं और आनन्द इसलिए कि उनका जीवात्मा प्राकृतिक बन्धनों से मोक्ष पाकर परम पिता का संसर्ग वा संयोग प्राप्त कर रहा है और साथ ही अपने प्रभु की इच्छा को पूर्ण कर रहा है। "प्रभो तेरी इच्छा पूर्ण हो" महर्षि दयानन्द के अन्तिम शब्द यही थे। किसी उर्दू कवि ने कहा है—

"राज़ी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रज़ा है"

इसी लिए वैदिक धर्मावलम्बी आर्यों में मोहम्मदियों के समान महापुरुषों के अन्तर्धान की स्मारक तिथियों पर शोकातुर होने वा रोने पीटने की रीति नहीं है, प्रत्युत इन अवसरों पर उनकी गुणावली गा कर आत्मा में आनन्द का संचार किया जाता है। सिक्खों, कबीरपन्थियों, दादूपन्थियों आदि सनातनधर्मी आर्य सन्तान (हिन्दुओं) के अन्य सम्प्रदायों में भी अपने धर्मसंस्थापक गुरुओं के चोला छोड़ने के दिन भण्डारा रचाने की रीति है। जिसमें उनके शब्दकीर्तन करने और कड़ाहप्रसाद बांटने का आनन्द मनाया जाता है और शोक लेशमात्र भी नहीं होता। फलतः आर्य जाति में शोकप्रदर्शनार्थ कोई भी पर्व नहीं है, नाही शोकप्रदर्शन में किसी पर्वता (उत्सवता) का संभव है और अतएव मृत्यूत्सव, शोकोत्सव वा शोकपर्व पद ही असंगत और असंबद्ध हैं। आर्य्यों के यहां किसी महात्मा के भौतिक देह-त्याग दिन को पुण्य-तिथि (पवित्र तिथि) निर्वाण-दिन, वा अन्तर्धान-दिवस कहते हैं।

अतः आज महर्षि दयानन्द के गुणानुवाद का अवसर उपस्थित है।

महर्षि दयानन्द के आर्य जनता पर इतने असंख्य और अनन्त उपकार हैं कि मादृश क्षुद्र लेखकों की निर्बल लेखनी उनके लिखने में असमर्थ है। जिस प्रकार समुद्र की विस्तृत बालुका में असंख्य और अनन्त कण होते हैं और जिस प्रकार दिनकर की किरणावली की गणना नहीं हो सकती उसी प्रकार महापुरुषों की भी गुणावली गणनातीत और महिमा अप्रमेय होती है। विचारक उस पर विचार और मनन करते रहते हैं। कवि उसका कीर्तन करते रहते हैं। गायक उसके गान से स्वरसना को रसवती और पवित्र करते रहते हैं और संसारी जन उससे शिक्षा ग्रहण करके अपना जन्म सुधारते रहते हैं। सच पूछिए तो इस संसृति-सागर में महात्माओं की चरितावली ही तरणी हैं और उनके आदर्श कर्म ही ज्योतिस्तम्भ हैं, जो भूले भटके बटोहियों को मार्ग दिखलाते और पार लगाते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र की जीवनी न जाने कितने कवीश्वरों के वाग्विलास का विषय बनी है। संस्कृत और हिन्दी काव्यों का प्रचुर भाग श्रीरामचन्द्र के गुणानुवाद से ही व्याप्त है। रामकथा ने न जाने कितने पथिकों को सत्पथ दिखलाया है और न जाने उसने कितने भक्तों को भक्ति-रस में आप्लावित किया है। योगिराज श्रीकृष्ण का पवित्र चरित्र पचासों काव्यों, गानों और घर २ की चर्चा का विषय बना हुआ है। उनकी भगवद्गीता का कर्मयोग सहस्रों आलसियों और उदासियों को कर्ममार्ग में प्रवृत्त करके कर्मण्य और कर्मवीर बना रहा है। भगवान् तथागत के जीवन ने पचासों बौद्धजातकों को घेरा हुआ है और वह विविध जातियों के करोड़ों नरनारियों और रावरङ्कों को शान्तिप्रद बना है। कहाँ तक गिनाएँ, संसार की सिरमौर भारत-वसुन्धरा तो ऐसे अनेक महात्माओं के गुणगान से गुञ्जायमान है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आज हमारे लिए भी एक महात्मा के गुणगान से अपने कर्णकुहरों को पवित्र करने और उससे शिक्षा ग्रहण करने का सुयोग पुनरपि प्राप्त है। आओ आज आचार्य दयानन्द के

पवित्र चरित्र की कुछ विशेषताओं पर विचार करके अपने समय का सदुपयोग करें ।

आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द के जीवन पर विचार करते हुए एक विचारक की दृष्टि से उस कर्मयोगी के नानारूप, जिनमें उस कर्मवीर ने अपनी सारी आयु व्यतीत कर दी, तिरोहित (ओझल) नहीं रह सकते । यहाँ लघु लेखक का अभिप्राय उनकी आद्यावस्था के उन मतपरिवर्तनों से नहीं है, जो सत्य की गवेषणा में उस जिज्ञासु व तत्त्वान्वेषी के विचारों में समय समय पर होते रहे, प्रत्युत उसके निश्चित कार्यपद्धति को ग्रहण कर चुकने और आर्यसमाज की संस्था को स्थापित करके क्रमबद्ध कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर, जिन विविध रूपों में उस उपकारी ने जनता का उपकार किया है, उनपर एक दृष्टि डालना ही इन पंक्तियों में अभीष्ट है ।

(१)—जगदुद्धारक संन्यासी दयानन्द

कर्मयोगी दयानन्द का सर्वश्रेष्ठ रूप जो सर्व प्रथम हमारे सम्मुख आता है वह जगदुद्धारक, सार्वभौम धर्मोपदेशक, सद्विद्याप्रचारक, संसारोपकारक संन्यासी का रूप है । संन्यासी पर किसी जाति वा देश विशेष का एकान्त स्वत्व वा ममत्व नहीं होता, प्रत्युत संन्यासी संसार मात्र की संपत्ति होता है । वह सारे संसार का होता है और सारा संसार उसका होता है । संसार में जो कुछ भी है वह सब ब्रह्मज्ञानी संन्यासी का ही है। मनु भगवान् कहते हैं—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।

मनु० अध्याय १ । श्लोक १०० ॥

इसलिए संन्यासियों को सारा संसार—आबालवृद्धवनिता स्वामी (प्रभु, मालिक) कह कर सम्बोधन करता है, अतः इस रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे भारत के मान्य और धर्मगुरु थे, वैसे ही वे अमेरिका तथा योरप आदि समस्त संसार के धर्मोपदेशक थे । इस रूप में

भारत से उनका कोई विशेष सम्बन्ध न था। जिस प्रकार वे भारत में प्रचलित मतमतान्तरों की समालोचना करते थे, उसी प्रकार अन्य देशों में प्रादुर्भूत मतों की भी छानबीन करते थे। सर्व संसार के लिए परम पिता से उपदिष्ट वैदिक धर्म ही उन को शिरोधार्य था और उसी सब देशों और कालों के लिए एकरस वैदिक सिद्धान्त का ही वे जगदीश के अमृतपुत्रा के लिए उपदेश देते थे। "संसार का उपकार करना" ही उनके संस्थापित समाज का "मुख्य उद्देश्य है" और प्रत्येक देश और मत में उत्पन्न हुआ मनुष्य इस समाज का सदस्य बन सकता है। अतः इस रूप में स्वामी दयानन्द विश्वकुटुम्बी थे।

(२)—भारत हितैषी दयानन्द

सर्व संसार मित्र वा सार्वभौम संन्यासी दयानन्द क्या भारतदेश-हितैषी वा भारतभक्त भी हो सकता है? क्या सर्व हितैषी एकान्तहितैषी भी हो सकता है? यह आपाततः विरोधविधायक प्रश्न हमारे सामने आता है, किन्तु गम्भीर विचार किया जाय, तो प्रश्न में ही समाधान उपस्थित है। जब प्रत्यंगों की उन्नति के विना सर्वांग (अङ्गसमष्टि) की उन्नति असम्भव है, जब प्रत्येक अङ्ग के चतुरस्र विकास से ही सर्वांग का पूर्ण विकास सम्भव है, तब सर्व संसार की उन्नति के लिए प्रत्येक देश की पृथक् २ उन्नति क्यों आवश्यक नहीं। पुनः क्या सारे संसार के सब बालकों से प्यार करने वाला अपने बालकों में स्नेहवान् नहीं हो सकता? क्या स्वबालकों पर प्रेमदृष्टि रखने के लिए उसको अन्यों के बालकों में अप्रिय दृष्टि रखना आवश्यक है? क्या किसी पुरुष विशेष के अपने बालक उसके विशेष प्रेमपात्र बने विना पालित और पोषित हो सकते हैं? क्या एक धार्मिक पुरुष विश्व के बालकों पर स्नेहमयी दृष्टि रखते हुए भी अपने बालकों के पालनपोषणहितार्थ उन पर सविशेष प्रेमदृष्टि नहीं रख सकता? यदि यह सब बातें सम्भव हैं, तो स्वामी दयानन्द का सार्व

भौम धर्मोपदेष्टा संन्यासी रहते हुए भी भारतभक्त और भारतदेशहितैषी रहना सम्भव है। जिस मनुष्य में स्वदेशहित और स्वजातीयता के भाव नहीं है, वह आत्मसम्मानशून्य और स्वाभिमानरहित पुरुष के तुल्य निर्जीव है। इसके अतिरिक्त क्या कोई कैसा ही विश्वकुटुम्बी संन्यासी भी स्वमाता के असीम उपकारों को भूल कर कृतघ्नी बन सकता है? फिर क्या वह स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि के मृत्कणों से स्वशरीरधारण और उसके अन्नपानदान से स्वदेहपोषण रूप त्रिकाल विनिमयायोग्य उपकार को विस्मृत करके अप्रायश्चित्तीया कृतघ्नता का पापी हो सकता है? क्या हम महर्षि दयानन्द से कृतविद्य और बहुश्रुत मनुष्य में इन न्यूनताओं की आशा कर सकते हैं? कदापि नहीं। यही कारण है कि हम महर्षि दयानन्द को उनके लेखों में यत्रतत्र स्वदेशभक्ति और आर्यावर्त के प्राचीन गौरव के गहरे रंग में सिर से पैर तक रंगा हुआ पाते हैं। उनके लेखों से इस विषय के इतने उद्धरण उपस्थित किए जा सकते हैं कि जिनको यहाँ लिख कर इस लेख को वृथा बढ़ाना होगा। उनके लेखों के उन अंशों के भाव को लेकर यह निःशंक कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द आजकल के किसी राष्ट्रवादी और सच्चे स्वदेशभक्त से कम न थे।

कई महाशय शायद विदेशीय वस्त्रवर्जन और स्वदेशी वस्त्रस्वीकार के आन्दोलन का आरम्भ बंगभंग से समझते हैं और उसको गांधीयुग की विशेषता मानते हैं, किन्तु यदि वे ऐतिहासिक अन्वेषण करेंगे तो उनको ज्ञात होगा कि जिस समय किसी भी राजनैतिक आन्दोलन ने विदेशीय वस्त्र के विरुद्ध ननु-नच तक न की थी, चूँ तक न की थी—उस समय आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने अनुपम ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में विदेशी-वर्जन का शब्द उठाया था और उनके उपदेश से उनके कई अनुयायी स्वनामधन्य पं० गुरुदत्त, वृद्ध ला० साईंदास और महात्मा मुंशीराम आदि केवल स्वदेशी वस्त्र ही पहिनते थे। जिस प्रकार भूभ्रमण और गुरुत्वाकर्षण आदि के सिद्धान्त के आविष्कार का अभिमान आर्यभट्ट

आदि भारतीय ज्योतिषियों को ही है, परन्तु संसार में उसके प्रचार का सेहरा पाश्चात्य ज्योतिषियों के सिर है, उसी प्रकार विक्रम की बीसवीं शताब्दी में स्वदेशीय वस्त्र परिधान के प्रथम उपदेश का श्रेय स्वामी दयानन्द को ही प्राप्त है, हां इस समय उसके प्रबल प्रचार के गौरवग्राही गांधी महात्मा अवश्य हैं।

वृद्ध भारत के पुनः प्राचीन गौरव स्थापन में जो भगीरथ प्रयत्न महर्षि दयानन्द ने किया है, उसको इतिहास स्यात् कभी न भूल सकेगा।

(३)—शिक्षाप्रचारक दयानन्द

सच्छिक्षा के जिस आदर्श पर आज सभ्य संसार इतने परिवर्तनों के पश्चात् पहुंचा है, उसके मूलतत्त्वों को महर्षि दयानन्द की दीर्घदृष्टि ने अर्ध-शताब्दी पूर्व ही देख लिया था। आज कल की शिक्षासरणि का प्रथम मूलतत्त्व गुरुशिष्यों का सततसम्बन्ध और सार्वकालिक सहवास ही माना जाता है और संप्रति साश्रम विश्वविद्यालयों की स्थापना का नाद चारों ओर से सुनाई दे रहा है। किन्तु महर्षि स्वशिक्षाविधि में गुरुकुलों की स्थापना पर, जिनमें शिष्यों को स्वगुरुओं के साथ सदैव रहना अनिवार्य है, बहुत समय पूर्व विशेष बल दे चुके थे और उसको ही शिक्षा का एकमात्र साधन बतला चुके थे। महर्षि की शिक्षाविधि का दूसरा मूलतत्त्व और वस्तुतः शिक्षा का आधारस्तम्भ जिस पर अभी तक सभ्य संसार में यथेष्ट बल नहीं दिया गया है, किन्तु उसकी उपादेयता यत्रतत्र स्वीकार की जा रही है और समय आवेगा कि उसका महत्त्व पूर्णरूप से माना जायगा, ब्रह्मचर्य है। यहां ब्रह्मचर्य के महत्त्व दिखलाने के लिए स्थान नहीं है, किन्तु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि शारीरिक, मानसिक, आत्मिक आदि प्रत्येक प्रकार की शिक्षा—चतुरस्र विकास—का सर्वोपरि साधन ब्रह्मचर्य ही हो सकता है। शिक्षा का तृतीय मूलतत्त्व, शिक्षा का सर्वसाधारण के बालक बालिकाओं में अनिवार्य वितरण और निःशुल्क

प्रसार माना जाता है। महर्षि की गुरुकुल-पाठप्रणाली के अन्तर्गत ये दोनों बातें स्वयमेव ही आ जाती हैं। यह दूसरी बात है कि महर्षि का आर्य-समाज स्वस्वल्पसामर्थ्य के कारण इस विषय में यथेष्ट और पूर्ण प्रयत्न नहीं कर सका। परन्तु यह सब मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि महर्षि द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने भारतीय जनसाधारण में स्वशक्ति भर, नितान्त निःशुल्क नहीं तो, अत्यन्त अल्पमूल्य पर शिक्षाप्रसार का भारी प्रयत्न किया है। आर्यसमाज के मुख्य केन्द्र पञ्जाब और संयुक्तप्रान्त में पचासों शिक्षणालय—बालकों के लिए गुरुकुल, कालिज, स्कूल और पाठशालाएँ तथा कन्याओं के लिए कन्याविद्यालय और पाठशालाएं—आर्यसमाज की ओर से संस्थापित और प्रचालित हैं। शिक्षा के पवित्र मन्दिर से बहिष्कृत तथाकथित अबला और अधम जातियों में शिक्षा-प्रसार में आर्यसमाज ने विशेषतः नामोल्लेख्य प्रयत्न किया है। यह सब महर्षि की शिक्षाप्रसारिणी विभूति का ही चमत्कार है।

(४)—समाजसुधारक दयानन्द

महर्षि दयानन्द के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत अगणित कुरीतियों और कुप्रथाओं का आखेटस्थल बना हुआ था। जिन कुप्रथाओं को अब परम-सनातनी भी हेय और त्याज्य समझते हैं, उस समय उनके भी विरुद्ध शब्द उठाने का बहुत ही कम उदारपुरुषों को साहस होता था; उन के उन्मूलन में सप्रयत्न और स्वयं आदर्श बनकर दिखलाने की तो बात ही दूसरी है। परन्तु आदित्य ब्रह्मचारी के प्रखर प्रताप ने आज हमको उसदिन का दर्शन करा दिया है, जब कि आर्यजाति की जड़ को खोखला करने वाली इन कुप्रथाओं को किसी कन्दरा में भी शरण नहीं मिलती। पूर्व जो सनातनी महामहोपदेशक और महामहोपाध्याय बालविवाह और 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' पर स्वपाण्डित्य का सारा बल व्यय करते देखे जाते थे, वे ही अब "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" का उच्चैः

उच्चारण और उस की पुष्टि करते देखे जाते हैं, और अस्पृश्य अधमोद्धार की सभाओं के सभापति के आसन को अलंकृत कर के सम्भाषण करते हुए सुने जाते हैं। अब सनातनियों के गण्य और मान्य पुरुष बालविधवाओं के दुःख-भंजन के पवित्र व्रत में दीक्षित दृष्टिगोचर होते हैं, और सनातनधर्म की कई तथाकथित 'नाकों' तक ने स्वबालविधवा पुत्रियों का आजन्म मर्मान्तवेदना-विमोचन करके अक्षय पुण्य का सञ्चय किया है। आर्यजाति की ६ करोड़ अभागी अस्पृश्य जनता के उद्धार पर तो कुछ काली भेड़ों को छोड़ कर समस्त आर्यजाति एकमत दीख रही है। बालविवाह का दिवाभीत भी अपना मुख छिपाए फिरता है और अब आशा होती है कि सुधारकों के अविराम उद्योग और ईश-अनुग्रह से उसकी समय-कुसमय की हूक भी सुनाई न देगी। समाजसुधार में महर्षि का सब से बड़ा कार्य चिरकाल से बद्धमूल जात्यभिमान और जन्म से जाति-पाँति के विचार को हिलाकर गुण, कर्म और स्वभावानुसार वैदिक वर्णाश्रम की मर्यादा का परिचालन था। महर्षि के प्रभाव से जिन समुदायों और जिन सम्प्रदायों के व्यक्ति परमपिता की कल्याणी वाणी के श्रवण मात्र तक के अधिकार से वञ्चित थे, उन में भी आज कल कई कृतविद्य महाशय पण्डित और शास्त्री पदवी से विभूषित हैं, तथा सहस्रों वर्षों से लुप्त ब्रह्मचर्याश्रमों के दुर्लभ दर्शन भी होने लगे हैं, जिनमें सैकड़ों वर्णी विद्याध्ययन कर रहे हैं। महर्षि दयानन्द की दया से, जिन जनों को चौके की लकीर से बाहर भोजन दुर्लभ था, उनको अब प्रत्येक शुद्ध स्थान में दाल भात आदि सुपच रसोई सुलभ होगई है। किन्तु समाज सुधार की यह तरङ्ग वा प्रभा विशेषतः महर्षि दयानन्द के कर्मक्षेत्र पंजाब और संयुक्तप्रान्त में ही दिखलाई देती है। जिन प्रान्तों में महर्षि विशेष कार्य नहीं कर सके, वे बङ्गाल और मद्रास प्रान्त मानसिक शक्तियों में विशिष्ट होने पर भी, अभी तक बाल विवाह और जात्यभिमान आदि कुप्रथाओं के लीला-निकेतन

बने हुए हैं। इतने ही से समाजसुधारक दयानन्द के महान् कार्य और प्रयत्न का अनुमान किया जा सकता है।

(५)—देवगिरोद्धारक दयानन्द

भारत यूं तो सदैव से देवगिरा (संस्कृत) का घर रहा है और इस में प्रत्येक समय इस वाणी के धुरन्धर और प्रगल्भ पण्डित उपजते रहे हैं, पर कई शताब्दियों से इस पर एक समुदायविशेष के मनुष्यों का ही अधिकार रह गया था। मुसलमानों के राजत्वकाल से द्विजातियों में क्षत्रियों और वैश्यों ने इसका पढ़ना बिलकुल त्याग दिया था। जिन क्षत्रियों में राजा जनक से ब्रह्मवादी और भीष्मपितामह से धर्मोपदेष्टाओं का प्रादुर्भाव हुआ था और जिन वैश्यों में तुलाधार से आत्मतत्त्वज्ञानी जन्मे थे, उनके वंशधरों में देववाणी के वाक्यमात्र को भी समझने की शक्ति नहीं रही थी और यही कारण था कि ब्राह्मणब्रुव उनकी नकेल पकड़ कर उनको जिधर चाहते थे, ले जाते थे। महर्षि दयानन्द की दीर्घ दृष्टि ने इस न्यूनता को अनुभव करके सर्व साधारण में संस्कृतभाषा फैलाने का उपक्रम किया। जहाँ उन्होंने देववाणी के सरल आर्ष ग्रन्थों का प्रचार किया, वहाँ सर्वसाधारण में संस्कृत व्याकरण के शीघ्रबोधार्थ वेदाङ्गप्रकाश नामक पुस्तकमालिका लोकभाषार्थ सहित बनवा कर प्रकाशित कराई। वे ब्राह्मणेतरों को संस्कृत सीखने का उत्साह बराबर दिलाते रहे। उनके मथुरा में रहते हुए एक महाशय नयनसुख जड़िया तक ने उन से पाणिनी अष्टाध्यायी के सूत्र कण्ठाग्र किये थे। भारत के दुर्भाग्य से महर्षि के पाञ्च-भौतिक शरीर का असमय ही अवसान हो गया, पर उनकी प्रज्वलित की हुई दीपशिखा अभी तक अपना प्रकाश बराबर फैला रही है और उससे आलोकित होकर आर्य्यसमाज ने देवगिरा के प्रसारार्थ बीसियों विद्यालय प्रचलित कर रक्खे हैं, जिन्होंने सर्व साधारण में संस्कृत शिक्षा प्रसार में बहुत कुछ कार्य किया है। आर्य्यसमाज के संस्कृत विद्यालयों से बड़े २

धुरन्धर और दिग्गज पण्डित तो बन कर कतिपय ही निकले हैं, पर संख्या को लेकर देखा जाय तो उन्होंने जन्म के ब्राह्मणों के अतिरिक्त ब्राह्मणेतर नामधारियों में संस्कृत का पर्याप्त प्रचार किया है। आर्य्यसमाज के संस्कृत प्रचार का उज्ज्वल प्रमाण देखना हो तो आप को बहुत से ऐसे संस्कृतज्ञ आर्य्य दृष्टिगोचर होंगे, जिनके कुलों में नागरी लिपि काला अक्षर भैंस बराबर चला आता था। इस विषय में यहां किसी जाति विशेष का नामोल्लेख स्यात् अनुचित होने पर भी प्रमाण स्वरूप से यह निर्देश स्यात् अनुचित न होगा कि महर्षि के आर्यसमाज के उद्योग से इस समय आर्य्य गृहस्थों में (मूंड मुंडाए उदासियों आदि में तो स्यात् पूर्व भी ब्राह्मणेतर संस्कृतज्ञ रहे हों) मेघ, जाट, वैश्य, कायस्थ. खत्री, तगा आदि जातियों में शास्त्री और अलंकार आदि अनेक पदवीधर पण्डित विद्यमान हैं, और इन जातियों के सैकड़ों बालक बालिका संस्कृताध्ययन कर रहे हैं। जो संस्कृत वाणी पूर्व पौरोहित्य-व्यवसायियों के लिए ही उपयोगी समझी जाती थी और जिसके कष्टसाध्य अनुशीलन का फल भागवत का सप्ताह बाँचना वा वेतन लेकर दूसरों के लिये जपानुष्ठान करना ही समझा जाता था, वह अब इतर व्ययसायियों के लिए भी उपयुक्त और प्रयोजनीय हो गई है। वेग से बहते हुए प्रवाह को इस प्रकार पलट देना महर्षि दयानन्द का ही अलौकिक चमत्कार हो सकता है। इसलिए इस कलिकाल में देवगिरोद्धारक रूप से महर्षि का नाम आसूर्य-चन्द्र चमकता रहेगा।

(६)—राष्ट्र (आर्य) भाषाप्रसारक दयानन्द

संस्कृत वाणी वेदवाणी की ज्येष्ठ पुत्री होने के कारण भारत के धार्मिक विद्वानों की सदैव से धार्मिक भाषा रही है, पर कुछ काल से ऐसे सामान उपस्थित हो गए थे कि वह सर्वसाधारण की व्यवहार्य वा कथ्या भाषा नहीं बन सकती थी, वा उसके द्वारा सर्वसाधारण में ज्ञान-प्रसार का कार्य नहीं हो सकता था। ऐसे समयों में धर्म और देश के नेता तथा

सुधारक सदैव से प्रचलित लोकभाषा से काम लेते रहे हैं, क्योंकि उनको तो जनता में अधिकाधिक ज्ञानप्रसार अभीष्ट होता है, स्वपाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं। पुराकाल में जब इस देश की प्रचलित भाषा पाली बन गई थी, महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशामृत की वर्षा पाली भाषा द्वारा ही की थी, तब से बौद्ध धर्म का साहित्य भण्डार पाली भाषा के ग्रन्थों से भरा जाने लगा। फिर जैन धर्म के तीर्थङ्करों और महात्माओं ने मागधी प्रकृत में स्वधर्म का प्रचार किया और जैन धर्म्म ग्रन्थ भी मागधी में ही बनने लगे। इन दोनों धर्मों के पाली और मागधी साहित्य में आज भी सहस्रों ग्रन्थ विद्यमान हैं और वे अन्य भाषाओं के बड़े बड़े साहित्यों से लग्गा खाते हैं। इन भाषाओं द्वारा ही इन धर्मों ने सर्वसाधारण की बड़ी संख्या में शीघ्र प्रचार पा लिया था। महर्षि दयानन्द सा दीर्घदर्शी और अनुभवी धर्मोपदेष्टा भी आजकल भारत में सब से अधिक समझे जाने वाली आर्य भाषा (हिन्दी) को उपेक्षादृष्टि से नहीं देख सकता था और इसलिए इसने अधिकांश इसी भाषा में धर्मप्रचार किया, इसी भाषा में स्वव्याख्यान दिए और इसी में अपने ग्रन्थों को लिखा। जिस समय महर्षि ने आर्य भाषा को अपनाया था, उस समय उसकी अवस्था बहुत ही हीन और दीन थी। उस समय बहुत थोड़े देशहितचिन्तकों ने इसकी भाविनी देशव्यापक भाषा बनने की योग्यता पर ध्यान दिया था और देश के अधिकांश विद्वान् उसमें स्वलेख लिखने से स्वगौरवहानि समझते थे। स्वदेशी संस्कृतज्ञ पण्डित तो उसको "भाखा भाखा" कह कर मुंह सकोड़ते थे, रहे अंग्रेज़ी विद्वान्, वे स्वदेश की प्रत्येक वस्तु को ही हेय दृष्टि से देखते थे। ऐसे समय में महर्षि दयानन्द ने हीना-दीना आर्यभाषा को आश्रय दिया और उनके आश्रयदान से उसका बहुत ही विस्तार हुआ है। उन्होंने संस्कृत के महापण्डित होते हुए और स्वमातृभाषा गुजराती की उपेक्षा करके भी अपने अधिकांश ग्रन्थों को आर्य भाषा में लिखकर उस की साहित्य वृद्धि की और उसके प्रचार का मार्ग अतिप्रशस्त बना दिया।

उनके भाषाग्रन्थों और विशेषतः विश्वविश्रुत और सदा-स्मरणीय सत्यार्थ प्रकाश का पाठ उनके प्रत्येक अनुयायी के लिए तो आवश्यकीय है ही, परन्तु उनके प्रतिपक्षियों ने भी उसको कम नहीं पढ़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने आर्य भाषा का ज्ञान प्रत्येक आर्य सदस्य के लिए आर्यसमाज के उपनियमों में अनिवार्य रक्खा हुआ है। इस नियम के वशवर्ती होकर न जाने कितने सहस्र मनुष्यों ने आर्य भाषा लिखना पढ़ना सीखा होगा। संयुक्तप्रान्त के अतिरिक्त, जहाँ कि आर्यभाषा मातृभाषा है, महर्षि के आर्यसमाज के उद्योग से भारत के इतर प्रान्त पञ्जाब, बम्बई, बङ्गाल और यत्किञ्चित् मद्रास प्रान्त में भी, जहाँ कि वह बोली नहीं जाती, इसका प्रचार हुआ है, जिस में पञ्जाब में इसका प्रचार विशेषतः उल्लेख योग्य है। पञ्जाब की आर्य कन्या पाठशालाओं में आर्य भाषा द्वारा ही शिक्षा दी जाती है, अतः उन शतशः कन्या पाठशालाओं में शिक्षा पाई हुई विद्यार्थिनियों द्वारा वहां के बहुसंख्यक आर्य परिवारों में उसका प्रसार हो गया है। श्रीमद्दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज लाहौर द्वारा भी इस भाषा का पञ्जाब में बहुत कुछ प्रचार हुआ है। पञ्जाब की आर्यप्रतिनिधि सभा के कांगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय ने तो आर्य भाषा के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा प्रदान का भी निदर्शन करके दिखला दिया है, जिसके विषय में अन्य विश्वविद्यालय अभी तक सोच विचार में ही पड़े हुए हैं। आर्यसमाज की ओर से आर्यभाषा के कई साप्ताहिक तथा मासिक पत्र भी प्रकाशित हो रहे हैं। आर्यभाषा के ऐसे सवेग और विस्तृत प्रसार ही से उसके भारत की राष्ट्र और देशव्यापक (Lingua Franca) भाषा बनने का स्वप्न पूरा और सत्य होता हुआ दीख पड़ता है और इस विषय में महर्षि दयानन्द के महान् उद्योग के कारण उनका नाम राष्ट्रभाषा-प्रसारकों की सूची में सर्वोच्च स्थान को अलंकृत करता रहेगा।

(७)—सनातनी पर उदार दयानन्द

महर्षि दयानन्द की एक और विभूति जो हमारे ध्यान को अपनी

और विशेषरूपेण आकृष्ट करती है, वह उनके परम सनातनी होते हुए भी उनकी परम उदारता है। स्वामी दयानन्द के सनातनीपन की पराकाष्ठा का अनुमान आप इतने मात्र से ही लगा सकते हैं कि उन्होंने अपने ग्रंथों में स्थान २ पर यह बलपूर्वक लिखा है कि मेरे सारे धार्मिक सिद्धान्त वे ही हैं जिनको ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त सारे ऋषि मुनि मानते चले आए हैं। यदि आप उनके स्वमन्तव्यामन्तव्य पर गवेषणापूर्वक विचार करें, तो आपको विदित होगा कि वस्तुतः उसका कोई सिद्धान्त भी नवीन नहीं है, किन्तु वे सारे के सारे प्राचीन ऋषि मुनियों के सम्मत हैं। वस्तुतः इस संसार में कोई भी वस्तु नवीन नहीं है, प्रत्युत परमार्थदृष्टि से सब ही प्राचीन तथा सनातन हैं। फिर स्वामी दयानन्द नवीन सिद्धान्त ला ही कहां से सकते थे? योरोप और एतद्देश के कई विद्वान् तो महर्षि दयानन्द के सनातनीपन को देखकर आश्चर्यचकित हो गए हैं और उन्होंने उसको प्रतिक्रिया की ओर लौटाने वाला (Reactionary) वा वर्तमान संसार को दो सहस्र वर्ष पीछे फेंकने वाला बतलाया है। आदि ब्रह्मसमाज और कई नवीन सुधारकों से उनका ऐकमत्य केवल इसलिए नहीं हो सका था कि वे वेदों को शब्दार्थ सम्बन्ध से अनादि और अपौरुषेय मानते थे। कोई कोई तो उनको वेदों के पीछे प्रमत्त (दीवाना) तक बतलाने की कृपा करते थे। कई उनसे उन के सनातनी और वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था के मानने के मत से सहमत नहीं हो सकते थे। बहुत से नवसभ्यताभिमानी उन पर इसलिए मखौल उड़ाते हैं कि उन्होंने साम्प्रतिक आचार-व्यवहार के विरुद्ध प्राचीन भारत की नियोग जैसी प्रथा की आजकल भी पुष्टि की है। ऐसे ही उनके कई और सनातनी तथा रूढ़ि विचारों से नई सभ्यता से मुग्ध पुरुषों के विचार नहीं मिलते। परन्तु इसके साथ ही वे महर्षि की परमोदारता देख कर भी आश्चर्य के सागर में निमग्न होते हैं, उनको ऐसे सनातनी विचार रखने वाले मनुष्य का जन्म को छोड़ कर गुण कर्म स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था मानना, मनुष्यमात्र को वेद और विद्या

का अधिकारी बतलाना, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देना और शुद्ध पवित्र मनुष्यमात्र के हाथ के भोजन को भक्ष्य और ग्राह्य बतलाना आदि उदार विचार खटकते हैं और इसी लिए प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने उन को उदार सनातनी (Liberal Orthodox) लिखा है। किन्तु महर्षि का यही तो महत्त्व है कि वे परम सनातनी होते हुए भी परमोदार विचार रखते थे, वा इस को दूसरे शब्दों में यूँ भी कह सकते हैं कि वे सत्य, सनातन, परमोदार, सार्वभौम वैदिक धर्म के ही प्रचारक थे।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियों में महर्षि के कई गुण दिखलाने से लेखक को यही अभिप्रेत है कि आज उनकी निधन तिथि में, जब उस परयमोगी ने परम आनन्द का योग प्राप्त किया था, सहृदय पाठक उनकी सद्‌गुणावली पर मनन करके अपना आदर्श निश्चित करें और महर्षि के पदचिह्नों पर चल कर ऐहिक और पारलौकिक सुख का मार्ग ढूँढते हुए संसारमात्र, स्वदेश, स्वराष्ट्र, स्वसमाज, स्वमातृभाषा के लिए उपयोगी और उद्योगी बनें। सर्वेशस्तथैव विदधातु।

पद्धति

गृह्यकृत्य—यतः दीवाली का पर्व वर्ष भर में घरों की लिपाई-पुताई आदि संस्कार के लिए विशेषतः उद्दिष्ट है, इसलिए स्वसुभीते के अनुसार दीवाली से पूर्व दिन के सायंकाल तक प्रचलित प्रथानुसार यह सब कार्य समाप्त हो जाना चाहिये। कार्तिकी अमावास्या के दिन प्रातःकाल सामान्य पर्व-पद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार यज्ञशाला वा आवास गृह के तल का गोमय से पुनः लेपन करके स्वदेशीय नवीन शुद्ध वस्त्र परिधानपूर्वक सामान्य होम करके निम्नलिखित मन्त्रों से स्थालीपाक से २८ विशेष आहुतियाँ

दी जांय। स्थालीपाक नवागत श्रावणी शस्य के अन्न से बनाया गया पायस (खीर) हो। हवन के अन्य साकल्य में लाजा (नवीन धानों की खील) विशेषतः मिलाई जांय।

(१) परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ स्वाहा॥

(२) मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥स्वाहा॥

(३) इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य। प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥स्वाहा॥

(४) इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ स्वाहा॥

(५) यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतवऋतुभिर्यन्ति साधु। यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ स्वाहा॥

ऋ० म० १० सू० १८ म० १—५

(६) आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ स्वाहा॥

अथ० का० ३, सू० ३१, मं० ८॥

(७) ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। स्वाहा। अ० का० ११, सू० ५, मं० १९॥

(८) शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा॥ स्वाहा॥

(९) ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां यो अज्यानिमजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे॥ स्वाहा॥

(१०) ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो

अस्तु । तेषामृतूना ᳯ शतशारदानां निवात एषामभये स्याम ॥स्वाहा॥

(११) इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः । तेषां वय ᳯ सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम ॥स्वाहा॥ (म० ब्रा० २ । १ । ९–१२) गोभिलीय गृहसूत्र, प्रपाठक ३, खंड ७, सूत्र १०–११ ॥

(१२) ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः । तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः ॥ स्वाहा ॥

(१३) ओं यन्मे किंचितदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् । तन्मे सर्व ᳯ समृध्यतां जीवतः शरदः शतम् ॥ स्वाहा ॥

(१४) ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्य ᳯ श्रैष्ठ्य ᳯ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा । इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥

(१५) ओं यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् । इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीता ᳯ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा । इदमिन्द्रपत्न्यै, इदन्न मम ।

(१६) ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो ऽतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवा ᳯ सा मे त्वनपायिनी भूयात स्वाहा । इदं सीतायै, इदन्नमम ॥

(१७) ओ३म् सीतायै स्वाहा ॥

(१८) ओं प्रजायै स्वाहा ॥

(१९) ओं शमायै स्वाहा ॥

(२०) ओं भूत्यै स्वाहा ॥

(२१) ओं व्रीहयश्च मे यवाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ स्वाहा ॥ यजु० अध्या० १८ मं० १२॥

(२२) ओम् वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः । वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ॥ स्वाहा ॥

(२३) ओं वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवां २ ॥ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥ स्वाहा ॥

(२४) * ओं वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपति-र्भवेयम् ॥ स्वाहा ॥ यजुर्वेद, अध्याय १८, मन्त्र ३२, ३३, ३४ ५

(२५) सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ स्वाहा ॥

(२६) युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् विराजः श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन् ॥स्वाहा॥

(२७) लाङ्गलं पवीरवत्सु शीम सोम सत्सरु । उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ स्वाहा ॥

---

* संख्या १ से ७ तक ७ मन्त्र दीर्घायु आदि वर्णन परक होने से ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से लिए गए हैं । संख्या १२ से २० तक ९ मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि ग्रन्थ पृष्ठ १७९ सं० १९४७ वै० के प्रयाग मुद्रित संस्करण से उद्धृत किए गए हैं, उक्त ग्रन्थ में इनका विनि-योग 'नवसस्येष्टि' तथा 'संवत्सरेष्टि' में किया गया है और पारस्कर गृह्य सूत्र में वे 'सीतायज्ञ' में विनियुक्त हैं । उक्त पारस्कर गृह्यसूत्र तथा अन्य गोभिलीय, मानव तथा आपस्तम्बीय गृह्यसूत्रों में नवसस्येष्टि (नवान्नेष्टि) तथा सीता यज्ञ के कृत्य बिलकुल भिन्न २ वर्णित हैं और उनमें से किसी गृह्यसूत्र में उक्त ९ मन्त्रों का विनियोग नवसस्येष्टि में नहीं लिखा है तथापि आर्यसमाज के आचार्य महर्षि दयानन्द की प्रामाणिकता को लक्ष्य में रख कर इन ९ मन्त्रों का विनियोग नवसस्येष्टि में ऊपर लिखा गया है । संख्या २१ से ३३ तक १३ मन्त्र, अन्न अथा कृषि के वर्णनपरक होने से नवस-स्येष्टि के उपयोगी समझ कर, मेरे संगृहीत हैं । शेष सब मन्त्रों का विनि-योग नवान्नेष्टि में पारस्करादि गृहसूत्रों में दिया हुआ है ।

(२८) इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु । सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ स्वाहा ॥

(२९) शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ स्वाहा ॥

(३०) शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ स्वाहा ॥

(३१) शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् । यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुपसिञ्चतम् ॥ स्वाहा ॥ अथर्व० कां० ३ । १७ । मं० १–७ ॥

(३२) सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव । यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ स्वाहा ॥

(३३) घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः । सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ स्वाहा ॥

अथर्व० कां० ३ । अ० ४ । मं० ७–८ ॥

(३४) इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्राग्निभ्याम् इदन्न मम ॥

(३५) विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । इदं विश्वेभ्यो देवेभ्य इदन्न मम ॥

(३६) द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । इदं द्यावापृथिवीभ्याम् इदन्न मम ॥

(३७) स्विष्टमग्ने अभि तत्पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अभिष्यक् । सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरं न आयुः ॥ स्वाहा ॥

(३८) यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्न मम ॥

पूर्णाहुति के पश्चात् खीलों और मिष्टान्न के (बताशे आदि) हुतशेष को यज्ञमण्डप में उपस्थित जनों में वितरण करके भक्षण किया जाय।

अपराह्न में प्रचलित प्रथानुसार इष्टमित्रों को मिष्टान्न के उपायन (भेंट) दिये जांय। सायङ्काल के समय आवास गृहों को सुचारु रूपेण सजाकर स्वसामर्थ्यानुसार दीपमाला की जाय।

सामाजिक कृत्य—अपराह्न वा रात्रि में स्वसुभीते के अनुसार समाज-मन्दिर आदि में एकत्र होकर आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द की स्मृति में सभा की जाय और उसमें ऋषि के गुणानुवाद पर भाषण, लेख और कविताओं का पाठ किया जाय तथा इसी विषय पर मधुर सङ्गीत हो। इस अवसर पर दयानन्द मिशन फण्ड के लिए।) वा ~) प्रत्येक पुरुष दान देवे।

श्रीमद्दयानन्द-महिमा

[गीतिकात्मक—मिलिन्दपाद]

ब्रह्मचारी ब्रह्म-विद्या का विशद विश्राम था।
धर्मधारी धीर योगी, सर्व-सद्‌गुण-धाम था॥
कर्मवीरों में प्रतापी, पर निरा निष्काम था।
श्रीदयानन्दर्षि स्वामी, सिद्ध जिसका नाम था॥
बीज विद्या के उसीका पुण्य पौरुष बो गया।
देख लो लोगो दुबारा भारतोदय हो गया॥ १॥
सत्यवादी वीर था जो, वाचनिक-संग्राम का।
साहसी पाया किसी को भी न जिसके काम का॥
प्राण दे प्रेमी बना जो, प्रेम के परिणाम का।
क्या दया-आनन्दधारी, धीर था वह नाम का?
धन्य सच्छिक्षा-सुधा से, धर्म का मुख धो गया।
देख लो लोगो दुबारा, भारतोदय हो गया॥ २॥

साधु-भक्तों में सुयोगी, संयमी बढ़ने लगे।
सभ्यता की सीढ़ियों पै सूरमा चढ़ने लगे॥
वेद-मन्त्रों को विवेकी प्रेम से पढ़ने लगे।
वञ्चकों की छातियों में शूल से गड़ने लगे॥
भारती जागी, अविद्या का कुलाहल सो गया।
देख लो लोगो दुबारा, भारतोदय हो गया॥ ३॥
कामना विज्ञानवादी मुक्ति की करने लगे।
ध्यान द्वारा धारणा में ध्येय को धरने लगे॥
आलसी, पापी, प्रमादी पाप से डरने लगे।
अन्धविश्वासी सचाई, भूल में भरने लगे॥
धूलि मिथ्या की उड़ा दी, दम्भ-दाहक रो गया।
देख लो लोगो दुबारा, भारतोदय हो गया॥ ४॥
तर्क-झञ्झा के झकोले, झाड़ते चलने लगे।
युक्तियों की आग चेती, जालिया जलने लगे॥
पुण्य के पौधे फबीले, फूलने-फलने लगे।
हाथ हत्यारे हठीले, मादकी मलने लगे॥
खेल देखे चेतना के, जड़ खिलौना खो गया।
देख लो लोगो दुबारा, भारतोदय हो गया॥ ५॥
तामसी थोथे मतों की, मोह-माया हट गई।
ऐंठ की पोली पहाड़ी, खण्डनों से फट गई॥
छूत छैया की अछूती, नाक लम्बी कट गई।
लालची पाखण्डियों की, पेट-पूजा घट गई॥
ऊत भूतों का बखेड़ा, डूब मरने को गया।
देख लो लोगो दुबारा, भारतोदय हो गया॥ ६॥
सत्य के साथी विवेकी मृत्यु को तर जांयगे।
ज्ञान-गीता गाय भोलों का भला कर जांयगे॥

अन्ध-अज्ञानी अंधेरे में पड़े मर जांयगे ।
आप डूबेंगे, अविद्या देश में भर जांयगे ॥
शंकरानन्दी वही है, जान शिव को जो गया ।
देख लो लोगो दुबारा, भारतोदय हो गया ॥ ७ ॥

(कविवर श्री नाथूराम शङ्कर कृत)

दयानन्द-निर्वाण

[ले०—वैदिक धर्म विशारद, काव्यमनीषी श्रीसूर्यदेव शर्मा M. A. साहित्यालङ्कार]

(शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्)

१—होती वृद्धि अधर्म की जब कहीं, अन्याय आधार में ।
धर्माधार धुरीण धैर्य बहता, धर्मध्वजीधार में ॥
मुक्तात्मा तब जन्म ले उतरते, सम्पूज्य संसार में ।
दे "आनन्द दया" ऽनुरुप बनके, जाते निराकार में ॥ १ ॥

२—"गूंजे गौरव-गीतिका जगत में, भावे भली भारती ।
मानें मानव मान ज्ञान गुरु का, हों मुक्त मेधाव्रती ।
वाणी वैदिक दे विनोद बढ़ के, आमोद आभावती" ॥
दे सन्देश विशेष विश्वपति का, निर्वाण पाया यती ॥ २ ॥

३—छोड़ा था घरबार, धान्य, धरणी, माता पिता जान के ।
विद्याहेतु बिताय बालपन को, जिज्ञासु हो ज्ञान के ॥
योगी योग-निधान खोज करके धी, धरणा, ध्यान के ।
सम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध करके, थे योग्य निर्वाण के ॥ ३ ॥

४—घूमें कानन-कुंज में, कुधर* में, वीथी गली ग्राम में ।
मारा मान महान् दिग्गजन का, शास्त्रार्थ-संग्राम में ॥
कीने वेद विशुद्ध-बोधवित् जो, प्राणी धराधाम में ।
पाया अन्तिम काल प्रेम प्रभु का, निर्वाण निष्काम में ॥ ४ ॥

५—राजा रंक सिखाय एक प्रभु की, आराधना साधना ।
फैलाई श्रुतिसिद्ध सत्य सुख की, सम्भावना, भावना ॥
होवे वेद-प्रचार चारु जग में, कैसी रही कामना ?
पा निर्वाण गए महान् पर भी, थी आसना वासना ॥ ५ ॥
६—भाती है खल को न भूति यश वा, जो गौरवागार है ।
जानें हैं कब मूढ़ मुक्ति मन क्या, सत्यार्थ क्या सार है !
पापी ने धन लोभ में विष दिया, हा दुष्ट ! भूभार है ।
कीना घातक किन्तु मुक्त ऋषि ने ऐसा महोदार है ॥ ६ ॥
७—शय्यासीन हुए ऋषीश फिर भी, धैर्येण चेते रहे ।
आर्यों को अनुकूल कर्म-कृति का, आदेश देते रहे ॥
प्रेमी भक्त महान् ज्ञान गुरुका, सामोद लेते रहे ।
सेवा में सविशेष यत्न करते, थे शिष्य केते रहे ? ॥ ७ ॥
८—पाया था, "गुरुदत्त" ज्ञान प्रभु का, जीता जगज्जाल था ।
था अत्यद्भुत दृश्य, कारुणिक था, तेजस्वि पै भाल था ।
पीछे भक्त सभी खड़े कर लिए, मृत्यून्मुखी काल था ।
"द्वारे दो सब खोल" वेद पथ के, आत्माध्वनीताल था । ८ ॥
९—गायत्री जप मंत्र गान करके, संलग्न प्रज्ञान में ।
प्राणायाम प्रपूर्ण श्वास भर के, दी धारणा ध्यान में ॥
"इच्छा है जगदीश! आज यह तो, हो पूर्ण" औसान में ।
"लीला आज अपार की" कह हुए, निर्मुक्त निर्वाण में ॥ ९ ॥
१०—हा स्वामिन्! सब आज दीप-अवली, से शोभते ओक थे ।
था अस्तंगत "सूर्य" किन्तु श्रुति का फीके पड़े लोक थे ॥
छोड़ा जीवन-मध्य आर्यगण को, हा शोक ! वे रोक थे ।
हो आदर्श अनूप आप अब भी, जैसे श्रुतालोक थे ॥ १० ॥

"सूर्यः"

---

* कु-धर = भू-धर = पर्वत ।

महर्षि-प्रशस्ति-पञ्चक

[षट्पदी छन्द]

(१)

जय जय सद्गुण-सदन साधु सद्धर्म-सुधारक ।
जय जय विमल-विवेक विबुध वर वेद-विचारक ॥
जय जय पावन पुण्य परम परमारथ-प्रेमी ।
जय जय निश्चल-नीति निपुण निर्मल-नय नेमी ॥
जय धर्म-धुरन्धर धीरधर, आर्य जाति के ध्रुव धवल ।
जय दयानन्द ऋषिवर प्रवर, देशभक्ति-सर शुचि कमल ॥

(२)

जय अति अनुपम अमल उच्च उद्देश-उजागर ।
संयम सुकृत सनेह शील साहस के सागर ॥
आत्मत्याग - अनुराग - योग - मूरति मन-भावन ।
भवभय-भीषण भूरि भ्रान्ति भ्रम-भेद-नशावन ॥
जय प्रतिभापूर्ण पयोधि प्रिय, पुण्य-प्रभा-विकसित-करन ।
जय दयानन्द ऋषिवर प्रवर, दुखियन-दुख-दारुण-हरन ॥

(३)

जय गुरु गौरवरूप शुद्ध सत्यार्थ-प्रकाशक ।
ब्रह्मचर्य-व्रत-वीर दम्भ दाहक के नाशक ॥
पूरण-प्रकट-प्रताप-प्राण दे प्रण के पालक ।
मुनिवर जीवनमुक्त विपुल विघ्नों के घालक ॥
जय भारत भूषण विमल-मति, सकल-हृदय दूषण-दलन ।
जय दयानन्द ऋषिवर प्रवर, छल बल दल मेटे खलन ॥

(४)

जय निर्भय निष्कपट निरन्तर नुत निष्कामी ।
दृढ़व्रत प्रतिपल, शूरवीर सच्चे नर नामी ॥

जय पाखण्ड प्रचण्ड खण्ड कर सत्पथगामी ।
जय जय सुधी समाज सुपूजित सादर स्वामी ॥
जय सत्स्वभाव साधन सुघर, प्रिय भारत मां के तनय ।
जय दयानन्द ऋषिवर प्रवर, जयति २ जय जयति जय ॥

(५)

जय ! जय !! जय !!! पौरुषी पुरुष प्रभुवर के प्यारे ।
दे देकर उपदेश देश के क्लेश निवारे ॥
वैदिक बोध विशुद्ध विश्व भर को बतलाया ।
प्रतिभा का पीयूष प्रेम से हमें पिलाया ॥
चहुंओर, चारु निज चरित से, छिटकाई कीरति किरण ।
जय दयानन्द ऋषिवर प्रवर, सादर वन्दों तव चरण ॥

महर्षि-स्तुति

सरसी छन्द

दयाघन ! हो तव जय जयकार
भारत नहीं किन्तु ऋषिवर ! तत ऋणी सकल संसार ॥ ध्रुव ॥
सघन अविद्या-घन-पटली में लुप्त हुआ श्रुति सार ।
सदय हृदय से किया आपने, फिर उसका निस्तार ॥ १ ॥
जीवनज्योति जगी जनता में, विनसे विविध विकार ।
ज्ञानसूर्य की दिव्य घटा में, छिटके शास्त्र-विचार ॥ २ ॥
राग-रोष, दुःख-दोष-कोष का, किया आशु संहार ।
परम पुण्य ध्रुव प्रेम मन्त्र का, सब में हुआ प्रचार ॥ ४ ॥
विश्ववन्द्य श्रीदयानन्द ने, किया परम उपकार ।
"श्रीहरि" ऋषिवर के चरणों में, बार बार जयकार ॥ ४ ॥

(कविवर श्रीहरि रचित)

मकर और संक्रान्ति

(दोहा)

शीत शिशिर हेमन्त का, हुआ परम प्राधान्य।
तैल, तूल, तिल, तपन का, सब जग में है मान्य॥

(रुचिरा)

उत्तर अयन इसी तिथि को है, सविता का सुप्रवेश हुआ।
मान दिवस का इस ही कारण, अब से है सविशेष हुआ॥
वेदप्रदर्शित देवयान का, जगती में विस्तार हुआ।
उत्सव संक्रान्ति मकर की का, जनता में सुप्रसार हुआ॥ १॥
तिल के मोदक, खिचड़ी, कंबल, आज दान में देते हैं।
दीनों का दुख दूर भगा कर, उन की आशिष लेते हैं॥
सतिल सुगंधित सुसाकल्य से होम यज्ञ भी करते हैं।
हिम से आवृत नभमण्डल को शुद्ध वायु से भरते हैं॥ २॥

(पं० सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ कविरत्न कृत)

जितने काल में पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा पूरी करती है, उस को एक 'सौर वर्ष' कहते हैं और कुछ लम्बी वर्तुलाकार जिस परिधि पर पृथिवी परिभ्रमण करती है, उसको 'क्रान्तिवृत्त' कहते हैं। ज्योतिषियों द्वारा इस क्रान्तिवृत्त के १२ भाग कल्पित किए हुए हैं और उन १२ भागों के नाम उन उन स्थानों पर आकाशस्थ नक्षत्रपुञ्जों से मिल कर बनी हुई कुछ मिलती जुलती आकृति वाले पदार्थों के नाम पर रख लिए गए हैं।

यथा—१ मेष, २ वृष, ३ मिथुन, ४ कर्क, ५ सिंह, ६ कन्या, ७ तुला, ८ वृश्चिक, ९ धनु, १० मकर, ११ कुम्भ, १२ मीन। प्रत्येक भाग वा आकृति 'राशि' कहलाती है। जब पृथिवी एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण करती है तो उस को 'संक्रान्ति' कहते हैं। लोक में उपचार से पृथिवी के संक्रमण को सूर्य का संक्रमण कहने लगे हैं। छः मास तक सूर्य क्रान्तिवृत्त से उत्तर की ओर उदय होता रहता है और छः मास तक दक्षिण की ओर निकलता रहता है। प्रत्येक षण्मास की अवधि का नाम 'अयन' है। सूर्य के उत्तर ओर उदय की अवधि को 'उत्तरायण' और दक्षिण ओर उदय की अवधि को 'दक्षिणायन' कहते हैं। उत्तरायण काल में सूर्य उत्तर की ओर से उदय होता हुआ दीखता है और उस में दिन बढ़ता जाता है और रात्रि घटती जाती है। दक्षिणायन में सूर्योदय दक्षिण की ओर दृष्टिगोचर होता है और उसमें रात्रि बढ़ती जाती है ओर दिन घटता जाता है। सूर्य की मकर राशि की संक्रान्ति से उत्तरायण और कर्क-संक्रान्ति से दक्षिणायन प्रारम्भ होता है। सूर्य के प्रकाशाधिक्य के कारण उत्तरायण विशेष महत्त्व-शाली माना जाता है और अतएव उत्तरायण के आरम्भ दिवस मकर की संक्रान्ति को भी अधिक महत्त्व दिया जाता है और स्मरणातीत चिरकाल से उस पर पर्व मनाया जाता है। यद्यपि इस समय उत्तरायण-परिवर्तन ठीक ठीक मकर संक्रान्ति पर नहीं होता और अयनचलन की गति बराबर पिछली ओर को होते रहने के कारण इस समय (संवत् १९९४ वि० में) मकर संक्रान्ति से २२ दिन पूर्व धन राशि के ७ अंश २४ कला पर 'उत्तरायण' होता है। इस परिवर्तन को लगभग १६५० वर्ष लगे हैं परन्तु पर्व मकरसंक्रान्ति के दिन ही होता चला आता है। इससे सर्वसाधारण की ज्योतिष शास्त्रानभिज्ञता का कुछ परिचय मिलता है, किन्तु शायद पर्व का चलते रहना अनुचित मान कर मकर संक्रान्ति के दिन ही पर्व मनाने की रीति चली आती हो।

मकर-संक्रान्ति के अवसर पर शीत अपने यौवन पर होता है। जना-

घास, जंगल, वन, पर्वत सर्वत्र शीत का आतंक छा रहा है, चराचर जगत् शीतराज का लोहा मान रहा है, हाथ पैर जाड़े से सिकुड़े जाते हैं, "रात्रौ जानुर्दिवा भानुः" रात्रि में जंघा और दिन में सूर्य, किसी कवि की यह उक्ति दोनों पर आजकल ही पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। दिन की अब तक यह अवस्था थी कि सूर्यदेव उदय होते ही अस्ताचल के गमन की तैयारियां आरम्भ कर देते थे, मानों दिन रात्रि में लीन ही हुआ जाता था। रात्रि सुरसा राक्षसी के समान अपना देह बढ़ाती ही चली जाती थी! अन्त को उसका भी अन्त आया। आज मकरसंक्रान्ति के मकर ने उसको निगलना आरम्भ कर दिया। आज सूर्यदेव ने उत्तरायण में प्रवेश किया। इस काल की महिमा संस्कृत साहित्य में वेद से लेकर आधुनिक ग्रन्थ पर्यन्त सविशेष वर्णन की गई है। वैदिक ग्रन्थों में उस को 'देवयान' कहा गया है और ज्ञानी लोग स्वशरीर त्याग तक की अभिलाषा इसी उत्तरायण में रखते हैं। उनके विचारानुसार इस समय देह त्यागने से उनकी आत्मा सूर्यलोक में होकर प्रकाश मार्ग से प्रयाण करेगी। आजीवन ब्रह्मचारी भीष्मपितामह ने इसी उत्तरायण के आगमन तक शरशय्या पर शयन करते हुए प्राणोत्क्रमण की प्रतीक्षा की थी। ऐसा प्रशस्त समय किसी पर्वता (पर्व बनने) से कैसे वञ्चित रह सकता था। आर्य जाति के प्राचीन नेताओं में मकर-संक्रान्ति (सूर्य की उत्तरायण-संक्रमण तिथि) को पर्व निर्धारित कर दिया।

जैसा कि पूव बतलाया जा चुका है कि यह पर्व बहुत चिरकाल से चला आता है। यह भारत के सब प्रान्तों में प्रचलित है, अतः इसको एकदेशी न कहकर सर्वदेशी कहना चाहिए। सब प्रान्तों में इसके मनाने की परिपाटी में भी समानता पाई जाती है सर्वत्र शीतातिशय के निवारण के उपचार प्रचलित हैं।

वैद्यक-शास्त्र में शीत के प्रतीकार तिल, तैल, तूल (रुई) बतलाए हैं। जिनमें तिल सब से मुख्य है। इसलिए पुराणों में इस पर्व के सब

कृत्यों में तिलों के प्रयोग का विशेष माहात्म्य गाया गया है और उनको पापनाशक कहा गया है। किसी पुराण का निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध है—

तिलस्नायो तिलोद्वर्ती तिलहोमी तिलोदकी।
तिलभुक् तिलदाता च षट्तिलाः पापनाशनाः॥

अर्थ—तिलमिश्रित जल से स्नान, तिल का उबटन, तिल का हवन, तिल का जल, तिल का भोजन और तिल का दान ये छः तिल के प्रयोग पापनाशक हैं।

मकर-संक्रान्ति के दिन भारत के सब प्रान्तों में तिल और गुड़ या खांड के लड्डू बनाकर जिनको 'तिलवे' कहते हैं, दान किए जाते हैं और इष्टमित्रों में बांटे जाते हैं। महाराष्ट्र प्रान्त में इस दिन तिलों का 'तीलगूल' नामक हलवा बांटने की प्रथा है और सौभाग्यवती स्त्रियां तथा कन्याएं अपनी सखी सहेलियों से मिलकर उनको हल्दी, रोली, तिल और गुड़ भेंट करती हैं। प्राचीन ग्रीक लोग भी वधू वर की सन्तान वृद्धि के निमित्त तिलों का पक्वान बांटते थे। इससे ज्ञात होता है कि तिलों का प्रयोग प्राचीनकाल में विशेष गुणकारक माना जाता रहा है। प्राचीन रोमन लोगों में भी मकर-संक्रान्ति के दिन अंजीर, खजूर और शहद अपने इष्टमित्रों को भेंट देने की रीति थी। यह भी मकर-संक्रान्ति पर्व की सार्वत्रिकता और प्राचीनता का परिचायक है।

मकर-संक्रान्ति पर्व पर दीनों को शीतनिवारणार्थ कम्बल और घृत दान करने की प्रथा सनातनियों में प्रचलित है। "कम्बलवन्तं न बाधते शीतम्" की श्लिष्ट उक्ति संस्कृत में प्रसिद्ध ही है। घृत को भी वैद्यक में ओज और तेज का बढ़ाने वाला तथा अग्निदीपक कहा गया है। आर्य पर्वों पर दान, जो धर्म का एक स्कन्ध है, अवश्यमेव ही कर्तव्य है और—

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।

गीता, अध्याय १७। श्लोक २०॥

अर्थ—देश, काल और पात्र के अनुसार ही दिया हुआ दान 'सात्त्विक' कहलाता है। तथा—

दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।

अर्थ—हे अर्जुन! दरिद्रों का पालन करो, धनियों को धन मत दो।

इन श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों के अनुसार इस प्रबल शीतकाल में मकरसंक्रान्ति पर दीनों को कम्बल आदि का दान परम धर्म है।

पञ्जाब में मकरसंक्रान्ति के पहिले दिन लोढ़ी का तेवहार मनाने की रीति है। इस अवसर पर स्थान २ पर होली के समान अग्नियां प्रज्वलित की जाती हैं और उनमें तपे हुए गन्ने भूमि पर पटका कर आनन्द मनाया जाता है। उससे अगले दिन वहां मकरसंक्रान्ति का भी उत्सव होता है, जिसको वहां 'माघी बोलते हैं। ज्ञात होता है कि यह दोनों दिन के लगातार दो उत्सव न होकर दिनद्वयव्यापी मकरसंक्रान्ति महोत्सव के एक ही पर्व का अपभ्रष्ट रूप है। पञ्जाब के आर्यसामाजिक पुरुषों को चाहिए कि वे दो दिन तेवहार न मनाकर मकरसंक्रान्ति की तिथि को ही परिमार्जित रूप में इस पर्व को मनाएँ और आर्यसामाजिक जगत् में पर्वों की एकाकारता स्थापित करने में सहायक हों।

पद्धति

गृह्यकृत्य—मकरसंक्रान्ति के दिन प्रातः सामान्यपर्वपद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन, शोधन तथा लेपन आदि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र-परिधान पूर्वक सपरिवार सामान्य हवन करें, जिसके साकल्य में तिल और शर्करा का परिमाण प्रचुर होना चाहिए और आहुतियों की मात्रा स्वसामर्थ्यानुसार बढ़ा देनी चाहिएँ। निम्न लिखित हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के वर्णन परक ऋचाओं से विशेष आहुतियां दी जांय।

ओ३म् सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू ॥
अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि स्वाहा ॥
कल्पेताम्, द्यावापृथिवी स्वाहा ॥
कल्पन्ताम, आप ओषधयः स्वाहा ॥
कल्पन्ताम्, अग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः, स्वाहा ॥
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्, स्वाहा ॥ यजु० अ० १४ मं० २७ ॥

ओ३म् तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू, अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि स्वाहा ॥
कल्पेताम्, द्यावापृथिवी स्वाहा ॥
कल्पन्ताम्, आप ओषधयः स्वाहा ॥
कल्पन्ताम, अग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः, स्वाहा ॥
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे हैमन्तिकावृतू इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् स्वाहा ॥ यजुर्वेद अ० १५ मं० ५१ ॥

तत्पश्चात् तिल के लड्डू (तिलवे) होम यज्ञ में समागत पुरुषों को हुतशेष के रूप में समर्पण किए जांय और स्ववित्तानुसार कम्बल सहित दीन-दुखियों को दान दिए जांय ।

सामाजिक कृत्य—अपराह्ण में सब आर्यसामाजिक पुरुष किसी प्रशस्त क्षेत्र में एकत्रित होकर दण्ड, बैठक और रस्सा खेंचना आदि के व्यायामों का प्रदर्शन करके उत्सव के आनन्द की वृद्धि करें ।

बसन्त पञ्चमी

माघ सुदि पञ्चमी

फूलन में केलि में कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर परागन में पानहूँ में पानन में पीक में पलाशन पगंत है ॥
द्वार में दिशान में दुनी में देश-देशन में देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
वीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बतन में बागन में बगरो बसंत है ॥

(कवि पदमाकर)

है ऋतुराज राज का आगम, जल थल में छवि छाई है।
प्रकृतिदेवि भी नवल रङ्ग में रङ्ग-मञ्च पर आई है ॥
विरसद्रुमों ने नवलदलों से निज श्रृङ्गार बनाया है।
मानों श्री बसन्तस्वागतहित रुचिर वितान बनाया है ॥
कुसुमभार का हार पहन कर मतवाले से झूम रहे।
कभी कभी वे अनुरागवश अवनि चरण को चूमरहे ॥
सरस रसाल साल में मञ्जुल पीतमञ्जरी आई है।
सरसों सुमन पीतभूतल में पीताम्बर छवि छाई है ॥
चित्र विचित्र वेश-भूषा में चित्रित मन हो जाता है।
नीरस हृदयों में सहसा ही, प्रेम बीज बो जाता है ॥
श्री ऋतुराज राज की लक्ष्मी नये ढङ्ग से आती है।
"श्रीहरि" विश्वरंगशाला में नये रङ्ग दिखलाती है ॥

(कविशिरोमणि श्री हरि)

शीत के आतंक का अपसार हो चला है, जराजीर्ण, खल्वाट, यष्टि-धारी शिशिर का बहिष्कार करते हुए सरस बसन्त ने वन और उपवन में ही नहीं, किन्तु वसुधा भर में सर्वत्र अपने आगमन की घोषणा दे दी है। सारी प्रकृति ने बसन्ती बाना पहन लिया है। खेतों में सरसों फूल रही है। जहां तक दृष्टि दौड़ाइये, मानों पीततासरिता की तरंगावली नेत्रों का आतिथ्य करती है, वनों में टेसू (पलाश-पुष्पों) की सर्वत्रव्यापिनी रक्ताभा दर्शनीय है, उपवन गेंदे और गुलदाऊदी की पुष्पावली के पीत-परिधान धारण किये हुए हैं, नगर और ग्राम में बाँके विहारी बसन्ती वस्त्रों से सजे हैं। मन्द सुगन्ध मलयसमीर सर्वत्र बह रहा है। ऋतुराज बसन्त के इस उदार अवसर पर इतने पुष्प खिलते हैं, कि वायुदेव को उनकी गन्ध के भार से शनैः शनैः सरकना पड़ता है। इस समय उपवनों में चारों ओर पुष्पों ही पुष्पों की शोभा नयनों को आनन्द देती है, जिधर देखिए उधर ही रङ्ग विरंगे फूल खिल रहे हैं, कहीं गुलाब अपनी गुलाबी बहार दिखा रहा है, तो कहीं गुले अब्बास के पंचरंगे फूल आंखों को लुभा रहे हैं, कहीं सूर्यप्रिया सूर्यमुखी सूर्य को निहार रही है, कहीं श्वेत कुन्द की कलियां दांत दिखला कर हँस रही हैं, गुलेलाला अपने गुलाबी पुष्पों के ओठों से मुस्करा रहा है, कमल अपने पुष्प-नेत्रों से प्राकृतिक सौन्दर्य को निहार रहा है। आम्रपुष्पों (बौरों) की छटा ही कुछ निराली है। उन पर भौंरों की गूँज और शाखाओं पर बैठी कोयल की कूक उसकी शोभा को द्विगुणित कर देती है। आम के बौरों में कुछ ऐसी मदमाती सुगन्ध होती है कि वह मन को बलात् अपनी ओर खींच कर मोद से भर देती है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार इस ऋतु में स्थावरों (वनस्पतियों) में नवीन रस का संचार ऊपर की ओर को होता है। जङ्गमों के शरीरों में भी नवीन रुधिर का प्रादुर्भाव होता है, जो उनमें उमंग और उल्लास को बढ़ाता है। बसन्त ऋतु तो चैत्र और वैशाख में होती है। "मधुमाधवौ बसन्तः स्यात्" यह वचन इस का पोषक प्रमाण है। किन्तु प्रकृति देवी

का यह सारा समारोह ऋतुराज बसन्त के स्वागत के लिए ४० दिन पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाता है। जब प्रकृति देवी ही सर्वतोभावेन ऋतुनायक के स्वागत में सन्नद्ध है, तो उसी के पंचभूतों से बना हुआ रसिक शिरोमणि मनुष्य रसवन्त बसन्त के शुभागमन से किस प्रकार बहिर्मुख रह सकता है। फिर वनोपवनविहारी भारतवासी तो प्राकृतिक-शोभा-निरीक्षण तथा प्रकृति के स्वर में स्वर मिलाने में प्राचीन काल से प्रवीण रहे हैं। वे इस अवसर पर आनन्दानुभव से कैसे वञ्चित रह सकते थे। प्राचीन भारतीयों ने इस उदार ऋतु का आनन्द मनाने के लिए बसन्त-पञ्चमी के पर्व की रचना की।

यह समय ही कुछ ऐसा मोदप्रद और मादक होता है कि वायुमंडल मद और मोह से भर जाता है, दिशाएँ कलकण्ठा कोकिला आदि विविध विहंगमों के मधुर आलाप से प्रतिध्वनित हो उठती हैं। क्या पशु, क्या पक्षी और क्या मनुज सब का हृदय आह्लाद से उद्वेलित होने लगता है, मनों में नयी नयी उमंगे उठने लगती हैं। भारत के अन्नदाता किसान अपने अहर्निश के परिश्रम को आसन्न आषाढ़ी (साढ़ी) सस्य के रूप में सफल देख कर फूले अंग नहीं समाते। उनके गेहूं और जौ के खेतों की नवाविर्भूत बालों से युक्त लहलहाती हरियाली उनकी आँखों को तरावट और चित्त को अपूर्वानन्द देती है, कृषि के सब कार्य इस समय समाप्तप्राय हो जाते हैं। अतः कृषि-प्रधान भारत को इस समय आमोद-प्रमोद और राग-रंग की सूझती है। माघ सुदि बसन्त पञ्चमी के दिन से उसका प्रारंभ होता है। भारत के ऐश्वर्य-शिखर पर आरूढ़ता और विलास-संपन्नता के समय पौराणिक काल में इस अवसर पर मदन-महोत्सव मनाया जाता था, जिसमें कामदेव की पूजा होती थी। संस्कृत-साहित्यज्ञ जानते हैं कि भारतवासी सदा से कविता के वातावर्त में विहार करते रहे हैं और कविता प्रतिक्षण कल्पना के वाहन पर विचरती रहती है, इसलिए शायद ही कोई भाव बचा हो, जिसका काल्पनिक चित्र भारतीय

कवियों ने न रचा हो । फिर भला मनु महाराज के—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥
मनु० अध्याय २ श्लोक ४ ॥

अर्थ—काम (कामना) रहित किसी पुरुष की कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती, जो कुछ भी कोई करता है, वह सब काम की ही चेष्टा है ।

इस पद्यानुसार सब क्रियाओं और चेष्टाओं के मूल और पुरुषार्थ चतुष्टय में अन्यतम काम की मूर्ति का निर्माण भारतीय कवि क्यों न करते। काम महाराज 'मनसिज' वा 'मनोभव' तथा 'अनङ्ग' ही क्यों न कहलाते हों (क्योंकि कामना मन में ही उत्पन्न होती है, और उसका कोई देह नहीं है), परन्तु भारतीय कवियों ने तो उनके साङ्गोपाङ्ग स्वरूप की सहचरों सहित सृष्टि करके उसका साक्षात् सब को करा दिया ।

अब मन में उत्पन्न होने वाली (मनसिज) कामना को तो कामदेव का रूप मिल गया । कामना में आविर्भूत रति कहलाने वाली मन की लगावट वा प्रसन्नता कामदेव की स्त्री बनी । रति का लक्षण साहित्यदर्पण में यह बतलाया गया है:—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् । साहित्यदर्पण । परिच्छेद ३ ।

इसका अर्थ यह है कि मन के अनुकूल प्रयोजन वा मन के झुकाव वा लगावट को रति कहते हैं ।

पौरुषपूर्ण पुरुषाकार कामदेव के लिए धनुष बाण की भी आवश्यकता हुई । काम के उद्दीपन विभावों में पुष्पवाटिका मुख्य है अर्थात् पुष्प काम के उद्दीपक हैं । पुष्प द्वारा काम का आघात हृदय पर तत्काल होता है, इसलिए पुष्प कामदेव के धनुष और बाण माने गए और कामदेव पुष्पधन्वा भी कहलाने लगा । यतः पुष्पों में अरविन्द (लाल कमल) अशोक, आम, नवमल्लिका (चमेली) और नीलोत्पल (नील कमल) विशेष कामोद्दीपक हैं इसलिये वे काम के बाण कल्पना किए गए और उस का

नाम पञ्चबाण, पञ्चशर और कुसुमेपु पड़ा। इस विषय में निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध है:—

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥

कविकुलगुरु कालिदास भी अपने कुमारसंभव में कहते हैं:—

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधु द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥

कुमारसंभव सर्ग ३ श्लोक २७ ॥

अर्थ—बसन्तऋतु ने, पल्लवों के अंकुर ही हैं, चारुपत्र (पंख) जिस में, ऐसे नवीन आम के पुष्परूपी बाण के तैयार होने पर, शीघ्र काम के नामाक्षरों के समान भ्रमरों को निवेशित किया (रक्खा) अर्थात् आम में मञ्जरी आते ही उस पर भ्रमर गुञ्जारने लगे।

काम मनुष्य की चेतना व बुद्धि को मथ डालता है, नष्ट कर देता है, इसलिये उसको मन्मथ भी कहते हैं। काम मनुष्य को मार डालता है, इसलिये उसका नाम मार भी है। मद वा हर्ष प्रदान करने के कारण वह मदन कहलाता है। कुत्सित दर्प वाला होने से उसकी कन्दर्प संज्ञा है। इस प्रकार कामदेव संसार में अनेक नामों से विख्यात है। बसन्त उसके विकास में बहुत सहायक होता है, इसलिए वह उसका सहचर मित्र माना जाता है। इस सहचर से समागत होने पर ही अर्थात् बसन्त ऋतु के आने पर रति-नायक की पूजा अनेक उपचारों से होती थी। कुसुमोद्यान का अशोकतल ही उसका समुचित स्थान था। इस मदनमहोत्सव ने विलासितायुग में ऐश्वर्यशाली विलासी नर नारियों में ऐसा प्राबल्य पाया कि ऋतुराज बसन्त में वे सारे व्यवहार छोड़ कर रात दिन कामदेव की उपासना में ही उपस्थित रहने लगे और यह पवित्र ऋतूत्सव कामियों की कामवासना की पूर्ति का साधन बन गया। श्रीहर्ष की रत्नावली और कालिदास के मालविकाग्निमित्र में वर्णित मदनमहोत्सव इसके निदर्शन हैं।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार अति से, निर्दोष और उपयोगी पदार्थ भी दूषणपूर्ण और घातक कैसे बन जाते हैं, कामादि मधुरमनोभाव ही इसके उदात्त उदाहरण हैं। जिस काम को मनु महाराज ने सर्व क्रियाओं का मूल कथन किया है और जो सृष्टिक्रम को सतत प्रवाहित रखने के लिए इतना आवश्यक है, वह अति को प्राप्त होकर भारत के विद्या, वीर्य, बल और वैभव का इस प्रकार विनाशक बन गया, यह विशेषज्ञों को ज्ञात ही है।

आर्य पुरुषों को उचित है कि वे कामदाहक कैलाशपति महादेव के उत्तम उदाहरण को सदा अपने सामने रखते हुए मर्यादातिक्रमणकारी कामादि विकारों को किसी ऋतु में भी अपने पास तक न फटकने दें और ऋतुराज बसन्त की शोभा को शुद्धभाव से निरखते हुए और परम प्रभु की रम्य रचना का गुणानुवाद करते हुए बसन्त पञ्चमी के ऋतूत्सव को पवित्र रूप में मना कर उसका आनन्द उठावें। बसन्तोत्सव पर भारत में संगीत का विशेष समारोह होता है, किन्तु जनता में शृङ्गारिक गानों का ही अधिक प्रचार है। संगीत से बढ़ कर मन और आत्मा का आह्लादक दूसरा पदार्थ नहीं है। सद्भावसमन्वित संगीत से आत्मा का अतीव उत्कर्ष होता है। आर्यसमाज ने भव्यभाव-भरित गानों का प्रचार तो किया है, किन्तु उसके गाने प्रायः संगीत विद्या के विरुद्ध बेसुरे और काव्यरस से शून्य पाये जाते हैं। आर्य महाशयों को इस दोष का परिमार्जन शीघ्र करना चाहिये। बसन्त आदि उत्सव संगीत और काव्य कला की उन्नति के लिए उपयुक्त और उत्तम अवसर हो सकते हैं। इन पर्वों पर आर्य जनता में कवितामय सुन्दर संगीत की परिपाटी प्रचलित करनी चाहिये। संगीत का सुधार भी सुधारक शिरोमणि आर्यसमाज से ही सम्भव है।

पद्धति

गृह्यकृत्य—प्रातः सामान्य पर्वपद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार गृह

के परिमार्जन (शोधन-लेपनादि) के पश्चात् स्वदेशीय पीताम्बर (पीतपट) परिधानपूर्वक सपरिवार सामान्य होम करके बसन्तवर्णनात्मक निम्नलिखित मन्त्रों से केशर मिश्रित (वा उसके अभाव में हरिद्रामिश्रित) हलुए के स्थालीपाक से पाँच अधिक आहुतियाँ दी जाय ।

(१) वसन्ते ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः । रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ यजुर्वेद, अध्याय २१, मन्त्र २३ ॥

(२) मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्-मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् । स्वाहा ॥

यजु० अध्याय १३ । मन्त्र २५ ॥

(३) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ स्वाहा ॥

(४) नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः । मधुद्यौरस्तु नः पिता ॥ स्वाहा ॥

(५) ओ३म् मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वी-र्गावो भवन्तु नः, स्वाहा ॥ यजुर्वेद, अध्याय १३ मन्त्र २७–२९ ॥

और उपर्युक्त केशराक्त हलवे का ही हुतशेष यज्ञ में समागत सज्जन प्रसादरूप से भोजन करें तथा ऋतुराज के वर्णनपरक किसी कविता का मधुर गान किया जाय ।

सामाजिककृत्य—स्वसुभीते के अनुसार अपराह्न में सब सामाजिक सज्जन (देवियाँ और देव पृथक् पृथक् मण्डलियों में) समूहरूप से सम्मि-लित होकर उपवन वा कुसुमोद्यान में भ्रमण करें और वहीं सभा करके बसन्तवर्णनपरक कविता पाठ और संगीत का आनन्द उठाएँ ।

इसी अवसर पर बालकों की क्रीड़ाओं के प्रदर्शन और फलों के सह-

भौज की स्वसुभीते के अनुसार आयोजना की जाय तो अत्युत्तम है और उससे बसन्तोत्सव की उत्कर्ष वृद्धि हो सकती है।

वसन्त-विकाश

(गीत)

छवि ऋतुराज की रे, अपनी ओर निहार, निहारो ॥ टेक ॥
घटती हैं घड़ियां रजनी की, बढ़ता है दिनमान।
सकुचेगी इस भाँति अविद्या, विकसेगा गुरु-ज्ञान ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

कर पतझाड़ चढ़ी पेड़ों पै, हरियाली भरपूर।
यों अवनति को उन्नति द्वारा, अब तो करदो दूर ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

छदन बेलि, वृक्षों पर छाए, रहे अपर्ण करील।
मन्द सुअवसर पाते तो भी, बने न वैभवशील ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

उलहे गुल्म, लता, तरु सारे, अंकुर कोमल-काय।
जैसे न्याय-परायण-नृप की, प्रजा बढ़े सुख पाय ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

हार हरे, करदिये बसन्ती, सरसों ने सब खेत।
मानो सुमति मिली सम्पति से, धर्म सुकर्म समेत ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

मधुर रसीले फल देने को, बौरे सघन-रसाल।
जैसे सकल सुलक्षण धारें, होनहार कुलपाल ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

बिगड़े फुलबुन्दे कदम्ब के, कलियानी कचनार।

बन बैठे धनहीन धनी यों, निर्धन कमलाधार ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

धौरे सुमन सुगन्धित धार, सदल सेवती सेव।
मानो शुद्ध-सुयश दरसाते, हिलमिल देवी देव ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

गेंदा खिले कुसुम केसरिया, पाटल-पुष्प अनूप।
किम्वा सहित समाज विराजे बुध-मंत्री, गुरु-भूप ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

फूल रहे सर में रस बांटे, उपकारी अरविन्द।
दान पाय गुरु-गुण गाते हैं, याचक-वृन्द-मिलिन्द ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

फूले मसि-मिश्रित-अरुणारे, किंशुक सौरभहीन।
विचरें यथा असाधु रंगीले, ज्ञानशून्य तन पीन ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

अरुण फूल फूले सेमर के, प्रकट कोश-गम्भीर।
क्या लोहित-मणि की कुलियों में, मांग रहे मधु वीर ?
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

बद बद गण सत्यानाशी के विकसे कण्टक धार।
किम्वा विशद-वेश-कटुभाषी, वञ्चक करें विहार ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

सुमन, मंजरी बरसाते हैं बन बीहड़, आराम।
क्या शर मार मार रसिकों से अटक रहा है काम ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

पुष्प-पराग सुगन्ध उड़ाता शीतल-मन्द समीर।

यों सब को सुख पहुंचाना है धर्म-धुरन्धर-धीर ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

कोकिल कूँजें मधुकर गूँजें, बोलें विविध विहंग ।
क्या मिल रहे साम-गायन से मुरली, बेणु मृदंग ?
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

त्याग विरोध मिले सकता से, सरदी और निदाघ ।
बैर बिसार तपोवन में ज्यों, साथ रहें मृग बाघ ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

रसिक-शत्रु बासन्ती-विधि का करते हैं अपमान ।
ज्यों रस भाव भरी कविता को सुनते नहीं अजान ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

भर देता है भारत भर में मधु आनन्द उमंग ।
भंग पिलाकर शंकर का भी, कर डाला व्रत भंग ॥
छ० ऋ० की० अ० ओ० नि०, निहारो ॥

(कविवर पं० नाथूराम शंकर)

वसन्त वर्णन

द्रुतविलम्बित

दुखद दूर हुआ हिम-त्रास है;
सुखद आगत श्री मधुमास है ।
अब कहीं दुख का न निवास है;
सब कहीं बस हास-विलास है ॥ १ ॥
दिवस रम्य, निशा रमणीय है;
सब दिशा विदिशा कमनीय हैं ।

सुखद मन्द-सुगन्ध समीर है;
चित चहे अब शीतल नीर है ॥ २ ॥
विविध पुष्प खिले छविवन्त हैं;
अति मनोहर रंग अनन्त हैं।
मधुप को करते मधु दान हैं;
अतिथि का करते सब मान हैं ॥ ३ ॥
दुखित दीन जिन्हें हिम की व्यथा;
असहनीय रही नित सर्वथा।
मुदित हैं अति शीत-विनाश से;
छुट गये अब वे यम-पाश से ॥ ४ ॥
खिल गये अब पङ्कज-पुञ्ज हैं;
कर रहे जिन पै अलि गुञ्ज हैं।
मिट तुषार गया सब सर्वथा;
विशद कान्ति हुई शशि की तथा ॥ ५ ॥
भ्रमर-शब्द मनोहर गान है;
सुमन ही जिनकी मुसकान हैं।
पवन कम्पित मञ्जु लता सब;
सुखद नृत्य मनो करती अब ॥ ६ ॥

वसन्ततिलका

फूले अनार कचनार अशोक-जाल;
धारे रसाल नव पल्लव लाल लाल।
चम्पा-कली हर रही मनु रूप-राशि,
श्रीमद्वसन्त-नृप की बलि दीपिका सी ॥ ७ ॥
फूले फले अब सभी द्रुम हैं सुहाते,
बैठे विहंग जिनकी सुषमा बढ़ाते।

शोभा मनोज्ञ शुक के मुख की चुराये,
लेते पलाश बन में मन को लुभाये ॥ ८ ॥

मन्दाक्रान्ता

है पृथ्वी में अतिशय सभी ओर आनन्द छाया,
क्या पक्षी क्या पशु तरु लता है सभी में समाया ।
धीरे धीरे अब गगन में श्री सहस्रांशु जाते,
मानो वे भी मुदित जग को देख हैं मोद-माते ॥ ९ ॥
पुष्पों की ले सुरभि बहता वायु है मन्द मन्द,
लोनी लोनी नवल लतिका कम्प पातीं अमन्द ।
मानो आता निकट लख के वायु को वे लजातीं,
जल्दी से वे बस इसलिए शीश नीचे नवातीं ॥१०॥
बैठी वृक्षों पर मुदित हो कोकिलें बोलती हैं,
मानो मीठी श्रवण-पुट में शर्करा घोलती हैं ।
है भृङ्गों के सहित अति ही कुन्द का फूल भाता,
मानो मोती ललित अलकों से घिरा है सुहाता ॥११॥

शार्दूलविक्रीडित

स्वर्णाभूषण कर्णिकार जिसका अत्यन्त शोभा-सना,
धारे किंशुकरूप लाल पट जो सौन्दर्यशाली घना ।
भाती कज्जल सी ललाम जिसके है मञ्जु भृङ्गावली,
लेती मोह वनस्थली न किसको यों अङ्गनासी भली ॥१२॥

(कविवर श्री ठाकुर गोपालशरणसिंह)

सीताष्टमी

(जानकी जन्म)

फाल्गुन वदि अष्टमी

(रूपघनाक्षरी कवित्त)

नारी है निकेत सब, दिव्य ललित भावों का,
प्रतिमा माधुरिमा की, प्रेम की परम धार।
इस ही नारी जाति को, सीता जनकनन्दिनी,
कर गई पवित्र थी, शुभ निज जन्म धार ॥
उसी के सुचरित्र को, स्वजीवन में धार के,
भारत की भामिनियो, निज जन्म लो सुधार।
सीता की पुण्य स्मृति में, सीताष्टमी का पर्व है,
जो है पतिव्रताओं के, पातिव्रत्य का अधार ॥ १ ॥
(पं० सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ कविरत्न कृत)

स्त्री जाति को विधाता ने ललित, दिव्य, मृदु और मधुर गुणों की राशि बनाया है। इन गुणों का जैसा विकास नारी जाति में होता है, वैसा अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। नारी दया का अवतार, प्रेम की परम धारा, सौन्दर्य की प्रतिमा, मधुरता की मूर्ति है। वह संसार का मूल है और गृहस्थाश्रम की जीवनशक्ति है। इसलिए देववाणीसाहित्य में नारी को देवी शब्द से समादृत किया गया है और दया आदि मन के जितने कोमल और उच्च भाव हैं, उनका शब्दशास्त्र में स्त्रीलिङ्ग से ही

निर्देश किया गया है। नारी को नर की खान कहा गया है। संसारियों का संसार, गृहस्थियों की गृहस्थता, सुकर्मियों के सुकर्म और धर्मात्माओं के सब धर्मों का स्रोत नारी ही है।

जिस नारी जाति की इतनी महिमा है, सभ्य समूहों में जिसका इतना समादर है, उसमें, आदि सृष्टि से समस्त संसार में सर्वोत्कृष्ट और आदर्श रूप में, किस देवी ने इस वसुन्धरा को अपने जन्म से पवित्र किया था, यह प्रश्न मानव समाज की शिक्षा के लिए इतिहास दृष्टि से अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण है। इसके उत्तर के लिए सारे संसार के प्राचीन और अर्वाचीन स्त्रीरत्नों के चारु चरित्रों की तुलनात्मक दृष्टि से जांच पड़ताल की जाय, तो सर्वसम्मति से एक ही नाम निर्धारित होगा और वह तत्वज्ञानी-शिरोमणि मिथिलाधिपति राजर्षि विदेह जनक की आत्मजा और सूर्यकुल कमलदिवाकर मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र की धर्मपत्नी सतीशिरोमणि श्रीसीताजी का प्रातःस्मरणीय पवित्र नाम है। भूतकाल में तो श्री सीता की समता करने वाली कोई नारी दिखलाई ही नहीं देती, किन्तु भविष्य भी उनकी किसी समकक्षा को उत्पन्न कर सकेगा, इसमें सन्देह है। बड़े बड़े क्रान्तदर्शी महाकवियों की प्रतिभा खोज करते २ थक गई, किन्तु उनको श्रीसीताजी की उपमा न मिल सकी। इसीलिए आदिकवि वाल्मीकि ने श्रीसीताजी को अनुपमा कहा है। क्या सरलता में, क्या सुशीलता में, क्या सच्चरित्रता में, क्या पतिपरायणता में, क्या कृतज्ञता में, क्या गम्भीरता में और क्या सुन्दरता में, सभी विषयों में सीतादेवी अद्वितीय थीं।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' इस लोकोक्ति के अनुसार सीतादेवी बाल्यावस्था से ही होनहार थीं। यह उनके जन्मजन्मान्तरों के सुकृत्यों का फल और सौभाग्य था कि उनका महाराज जनक जैसे अध्यात्मतत्ववेत्ता तथा धर्मात्मा पिता के यहां जन्म हुआ था। महाराज जनक अपने समय में अध्यात्मविद्या में ऐसे निष्णात माने जाते थे कि ब्रह्मजिज्ञासु

ऋषि मुनियों की मण्डली ज्ञानचर्चा के लिए उन को सदैव घेरे रहती थी और वे निष्काम भाव से राज्य-व्यवहार चलाते हुए भी जल में उत्पन्न कमलपत्र के समान संसार से पृथक् रहते थे, ऐसे सर्वगुणसम्पन्न राजर्षि जनक की आत्मजा श्रीसीता सर्वगुणों की खान क्यों न होतीं।

यद्यपि श्रीवाल्मीकिरामायण और पुराणों में श्रीसीताजी को जानकी, वैदेही, जनकात्मजा और जनकसुता पदों से जनक की पुत्री बतलाते हुए भी उन को अयोनिजा कहा गया है और उनके सीता नाम को लेकर उन की उत्पत्ति के विषय में एक यह अलौकिक कथा वर्णन की गई है कि, यतः वे सीता-यज्ञ में हल चलाते हुए महाराजा जनक को पृथिवी में सीता (हल के खूड़) में से मिलीं थीं, इसी लिये उनका नाम 'सीता' पड़ा था। परन्तु इस कथा का ऐतिहासिक और मानवी दृष्टि से तत्त्वानुसन्धान किया जाय, तो उसमें तथ्यांश इतना ही प्रतीत होता है कि महाराजा जनक के सीतायज्ञ के अवसर पर ही उनका जन्म होने के कारण उनका नाम 'सीता' रक्खा गया था। संसार में और भी ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें किन्हीं विशेष अवसरों पर उत्पन्न बालकों के नाम उन अवसरों के नाम पर ही रक्खे गए हैं। इस शताब्दी के काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी महामहोपाध्याय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी के 'सुधाकर' नामकरण का यह कारण था कि उनके जन्म के समय पत्रवाहक (पोस्टमैन) काशी से प्रकाशित 'सुधाकर' समाचार पत्र उनके पितृव्य के पास लाया था, उन्होंने उसी नवप्राप्त पत्र के नाम पर अपने नवजात भ्रातृज का नाम 'सुधाकर' रख दिया था।

श्रीमती सीताजी के 'सीता' नामकरण का हेतु भी उनकी सीतायज्ञ के अवसर पर की उत्पत्ति ही हो सकती है, क्योंकि सीतायज्ञ के अवसर पर उनका आविर्भाव तो सर्ववादिसम्मत ही है। केवल भूमि में से उनका प्रादुर्भाव विवादास्पद है। भूमि में किसी मानवी शरीर का निर्माण सृष्टिक्रम के सर्वथा विरुद्ध और इतिहास के नितान्त विपरीत है। हां, यह सम्भावना

हो सकती है कि कोई अपनी नवजात बालिका को महाराज जनक से जोते जाने वाली भूमि में कुछ क्षण पूर्व रख गया हो और महाराजा जनक ने हल चलाते हुए उसको वहाँ पाकर उठा लिया हो और अपनी पालिता पुत्री बना कर सीता (हल के खूड़) में उपलब्ध होने के कारण उसका नाम सीता रख दिया हो। परन्तु हमारा अपने प्राचीन काल के गौरव का अभिमान हम को भारत के उस सतयुग में नवजात शिशु के त्याग जैसे नृशंस और कुत्सित कर्म की सम्भावना का अनुमान नहीं करने देता, इसलिये प्रथम विकल्प ही प्रबलतर प्रतीत होता है। पौराणिक समय में प्रत्येक असाधारण गुणसम्पन्न आदर्श देव वा देवी (उत्तम पुरुष वा स्त्री) के सम्बन्ध में इसी प्रकार की अलौकिक कथाओं की कल्पनाएँ कर ली गई थीं और जिस किसी का नाम सीता वा जाम्बवती आदि के समान कुछ अद्भुत था, उसके विषय में तो अद्भुत रसपूर्ण कथा की कल्पना में पौराणिक कल्पनाशक्ति ने अपनी प्रखरता का पूर्ण परिचय दिया था। भारतीय पुरातत्त्वान्वेषकों और इतिहास-शोधकों का परम कर्त्तव्य है कि वे भारतीय इतिहास के स्वर्ण को काल्पनिक कथाओं की खोट से अपनी तत्त्वानुसंधानाग्नि द्वारा विशुद्ध कुन्दन बना कर उसको किस्से कहानी (Legend) कहलाने के कलंक से बचाएँ।

अस्तु, यह तो प्रसंगोपात्त विषय था। अब श्रीसीताजी की गुणगाथा की ओर पुनः आइए—श्रीसीताजी राजर्षि जनक के गृह में कलानिधि की कलाओं के समान दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगीं। जहाँ उनका रूप मोतियों की आभा के समान शोभा देता था, वहां उनका क्षत्रिय-कन्योचित तेज और पराक्रम भी प्रत्येक देखने वाले को प्रभावित किए बिना न रहता था।

राजर्षि जनक प्रायः प्रतिदिन सभा में बैठ कर ऋषि मुनियों के साथ परमार्थतत्त्वचिन्तन किया करते थे, उनकी सभा में दूर दूर से तपस्वी आया करते थे। उन वनवासी तपस्वियों के मुख से तापस आश्रमों और

तपोवनों का वर्णन सुन सुन कर श्रीसीताजी के बालहृदय में उन आश्रमों में ऋषिकन्याओं या ऋषिपत्नियों के साथ विहार करने की अभिलाषा अंकुरित और बद्धमूल हो गई। प्राकृतिक शोभा-निरीक्षण में उनका प्रेम प्रगाढ़ होता गया। यही कारण है कि आगे चल कर चौदह वर्ष तक श्री सीता को अपने पति के साथ घोरनादिनी नदियों के तीरस्थ गहन निर्जन वनों और गिरिकन्दराओं के आवास में कुछ भी कष्टानुभव नहीं हुआ।

बाल्यकाल को अतिक्रमण करके कैशोरावस्था में पदार्पण करने पर श्रीसीताजी के सद्गुणों का सौरभ दशों दिशाओं में व्याप्त होने लगा। राजर्षि जनक जहाँ अपनी पुत्री की कीर्त्ति सुन कर बहुत प्रसन्न होते थे, वहाँ अब उनके मन में इस चिन्ता का भी आविर्भाव होने लगा कि सीता अपनी शारीरिक और मानसिक सम्पत्ति—अपने सौन्दर्य, बल, विद्या और बुद्धि—के अनुरूप ही किसी योग्य पुरुषश्रेष्ठ की सहधर्मिणी तथा धर्मपत्नी बने। इसकी परीक्षा के लिए महाराज जनक ने यह प्रबन्ध किया कि उनके कुल में उनके पूर्वपुरुषों के समय से एक बड़ा भारी धनुष विद्यमान चला आता था, जो शिव-धनुष के नाम से विख्यात था। उन्होंने सीता के स्वयंवर के लिए यह पण (शर्त) नियत किया कि जो पुरुष इस धनुष पर बाणारोपण कर सकेगा सीता उसी के गले में वरमाला पहिना कर उसको अपना पति वरण करेगी। यथासमय सीतास्वयंवर ससमारोह रचाया गया। भारतवर्ष के सभी पराक्रमी और बलवैभव में विख्यात नृपतिगण उसमें एकत्र हुए और शिव-धनुष पर चिल्ला चढ़ाने में सब ने अपने भाग्य की परीक्षा की, किन्तु उसमें किसी को सफलता का सौभाग्य प्राप्त न हुआ। महाराज जनक को अपनी प्रियपुत्री के लिए योग्य वर की प्राप्ति में निराशा ने आ घेरा। वे इसी चिन्ता में निमग्न थे कि इक्ष्वाकुकुल-कमल-दिवाकर, उत्तरकोसलेश्वर सम्राट् दशरथ के पुत्र सर्वगुणाभिराम राम और लक्ष्मण ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ की विघ्नकारिणी ताड़का राक्षसी को मार कर और सीतास्वयंवर के पण उस

शिव-धनुष की प्रशंसा और ख्याति सुनकर उसको देखने और अपने बल का चमत्कार दिखलाने के लिये उक्त ऋषि के साथ महाराज जनक की राजसभा में पधारे और श्रीरामचन्द्र के हाथ से उस पुराने धनुष की प्रत्यञ्चा खींचते हुए उसके दो टुकड़े हो गए। धनुष क्या टूटा, राजर्षि जनक का चिन्तारूपी गुरु भार हलका हो गया और श्रीरामचन्द्रजी का अपार बल विक्रम देख कर वे अपनी पुत्री को ऐसा योग्य वर मिलने पर फूले अंग न समाए। सम्राट् दशरथ को यह शुभ सन्देश भेजा गया और उनके बरात लेकर आने पर श्रीरामचन्द्रजी का सीतादेवी से वैदिक विधानानुसार विवाह हो गया। श्रीसीताजी अपने पति के साथ अयोध्या जाकर आनन्दपूर्वक रहने लगीं।

वृद्ध होने पर महाराज दशरथ ने अपने ज्येष्ठ और सर्वगुणश्रेष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी को युवराज-पद पर अभिषिक्त करना चाहा, किन्तु एक कुटिला दासी मन्थरा के बहकाने से उनकी छोटी रानी कैकेयी के दुराग्रहवश उनको श्रीरामचन्द्रजी को यौवराज्य न देकर चौदह वर्ष का वनवास देना पड़ा। श्रीरामचन्द्र पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपने अनुज लक्ष्मण सहित वन को सिधारे। पतिपरायणा सतीशिरोमणि श्रीसीताजी ने भी प्राणप्रिय पति के पदों का अनुसरण किया और राजधानी अयोध्या के राजप्रासादों के राजोचित सुखैश्वर्यभोग की अपेक्षा पति की सेवा में रह कर वनस्थली के कठोर भूमिशयन और कन्दमूल तथा फल-भोजन को अधिक आनन्दप्रद माना। वे वहां अनुसूया आदि ऋषि-पत्नियों के सत्संग में प्राकृतिक शोभा का निरीक्षण करते हुए पति की सेवा में रत रहती थीं।

श्रीरामचन्द्रजी प्रिय भ्राता लक्ष्मण और सहधर्मिणी सीता सहित विन्ध्याटवी में भ्रमण करते हुए दक्षिण के महाकान्तार के पञ्चवटी स्थान में जाकर कुटी बना कर रहने लगे। वहां लङ्का के अत्याचारी अधिपति राक्षसराज रावण की भगिनी दुर्वृत्ता शूर्पणखा ने (कोई कोई उसका नाम

चन्द्रनखा बतलाते हैं) श्रीरामचन्द्रजी की सौन्दर्यदीप शिखा की पतंग बनकर उनको अपना पति बनाना चाहा और श्रीसीताजी को अपने मार्ग का कण्टक मान कर भक्षण करने को उद्यत हुई। इस पर वीरवर लक्ष्मण ने उसके स्त्री होने के कारण उसको प्राणदान देकर नाक कान काट कर छोड़ दिया। वह विलाप करती हुई पहिले तो रावण के दक्षिण देशस्थ राक्षसों के उपनिवेशाधिपति खर और दूषण के पास पहुंची और उनको सेना सहित राम लक्ष्मण पर चढ़ा लाई। पर एकाकी राम के हाथ से उन सब के मारे जाने पर रोती-पीटती अपने भ्राता रावण के पास लंका में गई और उसने अपनी दुःखकथा कहते हुए सीतादेवी के रूप-लावण्य को भी बढ़ा-चढ़ा कर उससे वर्णन किया। राक्षसराज रावण अपनी भगिनी के दुःख से मर्माहत होकर तथा सीता की सुन्दरता से आकृष्ट होकर संन्यासी के रूप से श्रीराम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में पञ्चवटी से श्रीसीता को बलात् हर ले गया और उन को लंका ले जाकर अपनी अशोक-वाटिका में बन्दी बना कर रक्खा। श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण सहित चिन्तातुर होकर श्रीसीता को वन वन में खोजते फिरे और उन्होंने पम्पाधिपति वानरवंशी सुग्रीव से मित्रता करके उसके सेनापति अतुल बल-धारी हनूमान् के द्वारा श्रीसीता का लङ्का में पता पाकर सुग्रीव की ही वानर-सेना से लङ्का पर आक्रमण किया और अपनी रणपटुता और शस्त्र-विद्या-कौशल से वानर कहलाने वाले वनवासियों को सुशिक्षित सेना में परिणत करके उन से रावण की युद्धाभ्यासी राक्षस-सेना को पराजित किया तथा मायावी रावण का उसके कुटिल कुटुम्ब सहित वध करके अपनी प्राणप्रिया धर्मपत्नी को उसके बन्धन से छुड़ाया।

दुष्ट रावण के पञ्जे में फंस कर श्रीसीता ने अपने धर्म की रक्षा जिस आत्मिक बल से की, उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना असम्भव है। रावण ने उनको अनेक प्रलोभन दिए और नाना प्रकार की यातनाएँ देकर बहुत कुछ डराया धमकाया, परन्तु वे अपने धर्म से लेशमात्र भी विचलित

न हुई। "धर्मो रक्षति रक्षितः" के अनुसार अन्त में धर्म ने ही उनकी रक्षा की और "पद्मपत्रमिवाम्भसा" के समान वे पापपङ्क के स्पर्श से विशुद्ध रहीं। लङ्का का राज्य रावण के अनुज विभीषण को देकर और श्रीसीता को लेकर अपने वनवास की १४ वर्ष की अवधि बीतने पर श्री रामचन्द्र लक्ष्मण सहित अयोध्या लौटे और अपने पैतृक राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर उत्तरकोशल देश की प्रजा का पालन करने लगे। उनके राज्य में प्रजा ऐसी सुखी थी कि अब भी उत्तम राज्य को "रामराज्य" कह कर पुकारा जाता है। प्रजानुरञ्जन ही वे अपना कर्तव्य समझते थे और प्रजा के मन के भाव जानने के लिए उन्होंने अनेक गुप्तचर नियत किये हुए थे। एक दिन एक गुप्तचर ने उन से एकान्त में आकर कहा "महाराज वैसे तो सर्वत्र प्रजा आपकी बहुत प्रशंसा करती है, किन्तु कई संशयालु पुरुष राक्षसराज रावण के यहां सीता के आवास के विषय में कुछ सन्देह प्रकट करते हैं।" वे कहते हैं—"जिस प्रकार महीनों रावण के घर में रही हुई सीता को हमारे राजा ने विना संकोच अपने घर में रख लिया, उसी प्रकार यदि हम को ऐसा अवसर पड़ेगा तो हम भी वैसा ही व्यवहार करेंगे।" इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी के हृदय को बहुत आघात पहुंचा। सीताजी के पवित्र चरित्र पर साधारण प्रजा द्वारा मिथ्या कलंक लगाने की बात सुनकर उनके नेत्रों के सामने अन्धकार छा गया। वे सोचने लगे—मुझ पर जो यह कलंक लगाया जाता है क्या उसकी बात मैं सुनी-अनसुनी कर दूँ वा निर्दोष पत्नी को छोड़ दूँ? कुछ क्षण तक इन दोनों बातों में से एक का भी निश्चय वे न कर सके। उनकी चित्तवृत्ति झूले के समान इधर उधर झोटे खाती रही। अन्त में उन्होंने इस जनापवाद को धर्मपत्नी के त्याग से ही दूर करने का निश्चय किया, क्योंकि जिन लोगों का यश ही धन होता है, उनके लिए यश शरीर से भी अधिक प्रिय होता है। उन्होंने उदास मन से अपने तीनों भ्राताओं को अपने पास बुलाया। वे श्रीरामचन्द्रजी का उतरा हुआ मुख देखकर

विह्वल हो उठे । उन से श्रीरामचन्द्र ने कहा – भ्राताओ, देखिए, सूर्यवंश और राजर्षियों के कुल को, दर्पण पर भाप के समान, मुझ सदाचार-पूत पुरुष के कारण यह कैसा धब्बा लगा है । मैं जलतरंग में तैलविन्दु के सदृश फैलते हुए इस प्रथम कलंक को, बन्धनस्तम्भ को हाथी के समान नहीं सह सकता हूँ । उससे बचने के लिये मैं आसन्नप्रसवा जानकी का भी कुछ विचार न करके उस को उसी प्रकार त्यागना चाहता हूँ, जिस प्रकार मैंने पिता की आज्ञा से पृथिवी को त्याग दिया था । यद्यपि मैं जानकी को निर्दोष समझता हूँ, परन्तु लोकनिन्दा बड़ी प्रबल है, देखो यद्यपि पृथिवी की छाया के कारण चन्द्रग्रहण होता है किन्तु जनता यह समझती है कि चन्द्रमा में कालिमा आ गई है, इसलिए यदि आप कुछ और समय तक मेरा जीवित रहना चाहते हैं, तो मेरे इस संकल्प का निषेध न कीजिए । श्रीरामचन्द्र के इस निष्ठुर भाषण का अनुमोदन वा प्रतिवाद करने का किसी भ्राता को भी साहस न हुआ । फिर सत्य-भाषी रामचन्द्र ने लक्ष्मण को एकान्त में ले जाकर यह आज्ञा दी— "सौम्य, तुम्हारी गर्भवती भ्रातृजाया (भाभी) को तपोवन दर्शन की अभिलाषा है, इसलिए तुम उसको रथ में बिठला कर बाल्मीकि मुनि के आश्रम के पास ले जाकर छोड़ आओ ।" श्रीसीतादेवी ने वस्तुतः ही यह इच्छा उन से प्रकट की थी । लक्ष्मण ने बड़े भाई की आज्ञा सिर नवाकर ग्रहण की, क्योंकि बड़ों की आज्ञा में ननु-नच करना अशिष्टता है । श्री सीता अपने वनगमन की अभिलाषा की पूर्ति सुन कर बहुत प्रसन्न हुई और उन्होंने न चौंकने वाले (सिधले) घोड़ों के रथ पर सवार होकर वन को प्रयाण किया । वन में पहुंच कर लक्ष्मणजी ने बड़ी कठिनता से आँसुओं को रोक कर और अपनी वाणी को सम्भाल ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा सीताजी को इस प्रकार सुनाई, जैसे उत्पाती मेघ ओले बरसाता है । सीता इस आज्ञा को सुन कर मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ी । मूर्च्छा की अवस्था में उनको कष्ट का कुछ भी अनुभव नहीं हुआ, किन्तु

लक्ष्मण के प्रयत्न से प्राप्त कराई हुई चेतना उनको मूर्च्छा से भी अधिक कष्टदायक हुई। सुशीला और पतिव्रता सीतादेवी ने विना अपराध त्यागे जाने पर भी पति को कोई कुवाच्य न कहे। वे अपने दुष्कर्म (दुर्दैव) को ही बार-बार दोष देती थीं। लक्ष्मणजी ने सीता को सान्त्वना देकर वाल्मीकि के आश्रम का मार्ग दिखा कर उनसे क्षमा याचना की कि देवी! आप मुझ पराधीन का अपराध क्षमा कीजिए। सीता ने लक्ष्मण को आशीर्वाद दिया और उनके द्वारा अपने पति को यह संदेश दिया — "सम्राट् ने मुझ को निरपराध जानकर भी लोकनिन्दा के भय से मेरा परित्याग इस प्रकार किया है। क्या यह उनकी विद्यासम्पत्ति और कुल के अनुरूप है? किन्तु मुझ को उनके इस स्वेच्छाचार पर आक्षेप न करना चाहिये। यह मेरे ही जन्म-जन्मान्तर के दुष्कर्मों का दुर्विपाक है। अब मैं पूर्व वनवास समय आपकी कृपा से राक्षसों से सताये हुए पतियों वाली तपस्विनियों को शरण देने वाली होकर आपके रहते हुए उन्हीं की शरण में कैसे जाऊँगी? यदि मेरे गर्भ में मेरे रक्षा करने योग्य आपका तेज न होता (मैं गर्भवती न होती) तो मैं आपके कठिन वियोग से निष्फल और क्षुद्र अपने इस जीवन की उपेक्षा करती, किन्तु इस अवस्था में मैं वह भी नहीं कर सकती। मनु महाराज ने राजा का धर्म वर्णाश्रम की रक्षा बतलाया है, इसलिए मेरी आप से यही प्रार्थना है कि यद्यपि अब आपने मुझ को त्याग दिया है, तो भी आप एक सामान्य तपस्विनी की दृष्टि से मुझ को देखते रहे।" "बहुत अच्छा" यह कह कर लक्ष्मण के दृष्टि से ओट हो जाने पर सीता दुःख के भारी बोझ से कुररी पक्षी के समान मुक्तकण्ठ से रोने लगी। उसके विलाप को सुन कर मोरनियों ने नाचना त्याग दिया और हरिणियोंने मुंह में ली हुई घास तक त्याग दी। वृक्षों की शाखाओं ने अपने पुष्प नीचे गिरा दिये, मानों वन ने भी उसके साथ समवेदना प्रदर्शनार्थ रोदन किया। उसकी विलापध्वनि का अनुसरण कर कुश और ईन्धन लाने के लिये वन में आया हुआ वही मुनि

उसके पास पहुंचा, जिसके बाणविद्ध क्रौञ्च को देखकर उत्पन्न हुए शोक ने श्लोक का रूप धारण कर लिया था। अर्थात् जिस बाल्मीकि मुनि के मुख से व्याध के बाण के आघात से छटपटाते हुए क्रौञ्च पक्षी को देख कर शोक के आवेग में—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

ये शब्द सहसा निकल कर अकस्मात् श्लोक के रूप में परिणत हो गये थे और इसी प्रथम श्लोक के निर्माण के कारण वे 'आदि कवि' कहलाते हैं। वही वाल्मीकि मुनि जनकनन्दिनी के रोने का शब्द सुन कर उसके पास आए। वाल्मीकि मुनि को देखकर सीता ने आँसू पूँछ कर उनको प्रणाम किया। उन्होंने भी उसमें गर्भवती के चिन्ह पाकर "पुत्रवती हो" यह आशीर्वाद दिया और उससे कहा कि मैंने ध्यान-योग के बल से यह जान लिया है कि लोकापवाद से भयभीत होकर तेरे पति ने तेरा त्याग किया है। अब तू यह समझ कि तू अपने पिता के घर में आ गई है और व्याकुल मत हो। तेरे पति ने यद्यपि त्रिलोकीकण्टक रावण का वध किया है और वह अपनी प्रतिज्ञा का पूरा है और उसमें अभिमान का भी लेश नहीं है, तो भी उसने तेरे साथ जो अनर्थ किया है उसके कारण मैं उस से रुष्ट हूँ। उसके प्रति मेरे आदर-भाव में न्यूनता आ गई है। तुम्हारे श्वशुर मेरे मित्र थे। तेरे पिता ब्रह्मजिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने वाले हैं, तुम पतिव्रता देवियों में अग्रगण्य हो, इसलिए तुम मेरी कृपा की पात्र क्यों न होगी? इस वन के जन्तु भी तपस्वियों की संगति से सुशील बन गए हैं, यहां तुम निर्भय रहो, यहां तुम्हारे जो सन्तान उत्पन्न होगी, उसके जातकर्म आदि सब संस्कार यथाविधि होंगे। ऋतु के फलमूल और श्यामाकादि मुन्यन्न संग्रह करती हुई मुनिकन्याएँ अपने उदार-वचनों से तेरे नवीन शोक को दूर करेंगी। अपने सामर्थ्य के अनुसार

छोटे १ घड़ों से इस आश्रम के वृक्षों को जल देकर पालन करती हुई तेरे मन में प्रसव से पूर्व ही अपने दूध पीने वाले शिशु के प्रति स्नेह का संचार हो जायगा। सीता ने वाल्मीकि के कृपापूर्ण वाक्यों का धन्यवाद दिया और उनके साथ वह सन्ध्या समय मृगों से घिरी हुई वेदि वाले उनके आश्रम में पहुंची। तपस्विनियों ने उसकी अभ्यर्थना की और उस को इङ्गुदी (हिङ्गोट) के तेल के दीपक के प्रकाश वाली, मृगचर्म बिछी हुई पर्णशाला में स्थान दिया। वहां रह कर सीता वल्कल वस्त्र पहिन कर और कन्दमूल फल खाकर पति का वंश चलाने के लिए अपने शरीर की रक्षा करती रही। उधर लक्ष्मण भी यह सोचते हुए कि अब श्रीरामचन्द्र को सीता के परित्याग का परिताप हुआ होगा, लौट कर अयोध्या पहुंचे और सीता का सब वृत्तान्त उसके सन्देश सहित उनसे निवेदन किया। रामचन्द्र उसको सुनकर इस प्रकार अश्रुपात करने लगे, जैसे पौष मास के चन्द्रमा से कोहरे के बिन्दु वर्षा करते हैं, क्योंकि उन्होंने लोकापवाद के भय से अपने गृह में ही से सीता को निकाल दिया था, हृदय से बाहर न किया था।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी किसी प्रकार शोक को रोक कर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा में तत्पर रहते हुए शरीर यात्रा के लिये आवश्यक भोग भोगते रहे और प्रजा का पालन करते रहे।

कई वर्ष पश्चात् उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया, उसके कृत्य में उन्होंने अर्धाङ्गिनी के स्थान पर सीता की स्वर्ण की मूर्ति स्थापित करके यज्ञाङ्ग को पूरा किया और उसके लिए दूसरा विवाह नहीं किया। सीता को यह समाचार सुन कर बहुत सान्त्वना मिली।

वाल्मीकि के आश्रम में रहते हुए गर्भावधि पूर्ण होने पर श्रीसीताजी के दो यमज पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकि मुनि ने बड़े हर्ष से उनका जात-कर्म संस्कार करके नामकरण किया। बड़े बालक का नाम कुश और छोटे का लव रक्खा गया। अपने देवतुल्य कुमारों के पालन-पोषण में सीतादेवी अपना समय काटने लगी। कुछ बड़े होने पर दोनों कुमार वाल्मीकि मुनि

से ही विद्याध्ययन करने लगे और स्वल्प काल में ही अपनी कुशाग्रबुद्धि से शास्त्र और शस्त्र विद्या में पारंगत हो गए। श्रीवाल्मीकिजी ने अपना बनाया हुआ रामायण महाकाव्य उनको कण्ठाग्र कराया। वे उसको अपने कलकण्ठ से बड़े मधुर स्वर से गाते थे।

रामचन्द्र के अश्वमेध यज्ञ में शिष्यों सहित सम्मिलित होने का निमन्त्रण श्रीवाल्मीकिजी के पास भी पहुंचा और वे अपने अन्य शिष्यों के साथ लव और कुश के सहित अयोध्या में जाकर रामचन्द्र के यज्ञ में उपस्थित हुए। वहाँ भी लव और कुश ने आदि कवि वाल्मीकि का नवनिर्मित रामायण महाकाव्य राजसभा में गाकर सुनाया और जनता को कविता और संगीत के सारस्य से मुग्ध कर दिया। श्रीरामचन्द्रजी भी उनके गान को सुन कर तो आनन्दित हुए ही, किन्तु उनके सौन्दर्य और अपने शरीर के समान उनके अङ्गों को देखकर उनका हृदय वात्सल्य रस से भी परिपूर्ण हो गया। और उनको यह निश्चय हो गया कि वे सीतादेवी के गर्भजात उनके ही आत्मज हैं। तब उन्होंने वाल्मीकि मुनि से प्रार्थना की—"भगवन् यद्यपि सीतादेवी निर्दोष हैं, तथापि उनको यहां पधार कर भरी राजसभा में अपनी निर्दोषता स्पष्ट रूप से अपने मुख से प्रतिपादन करनी चाहिये।" तदनुसार वाल्मीकिजी तपस्वी वेषधारिणी सीता को लेकर सभा में उपस्थित हुए। सारी सभा सीताजी के वल्कल-वस्त्र देख कर सजलनयन हो उठी। वाल्मीकिजी ने अपने ओजस्वी भाषण से उनकी निष्पापता की पुष्टि की। रामचन्द्रजी ने उसको प्रमाणित माना, किन्तु फिर भी यही आपत्ति उपस्थित की कि लोकापवाद के भय से मैं इनके ग्रहण करने में आशङ्कित हूँ। श्रीसीताजी इन मर्मभेदी शब्दों को सुन कर मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर ऐसी गिरीं कि फिर वहां से न उठीं। वे जननी जन्मभूमि की गोद में सदा के लिए सो गईं। श्रीसीता के इस प्रकार लीलासंवरण को कविता की भाषा में "उनको पृथ्वीमाता का शरण-प्रदान" "पृथ्वी में समा जाना कहा गया है, जिससे पीछे से जनता में यह कथा चल पड़ी प्रतीत होती है

कि श्रीसीताजी के प्रार्थना करने पर पृथिवी में एक विवर बन गया और सीताजी वस्तुतः उसमें समा गई थीं। जनसाधारण में इस प्रकार की अद्भुत रसपूर्ण कथाओं के प्रचलित हो जाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही होती है।

भगवती सीतादेवी के देहावसान की शोकमयी दुर्घटना को देख कर महाराजा रामचन्द्र का विदीर्ण हृदय भी इस महाशोक के गुरु भार को न सह सका और इसके कुछ ही काल पश्चात् वे पुत्रों को राज-भार सौंप कर भ्राताओं सहित परमधाम को सिधारे।

भगवती सीतादेवी की पावनी जीवनी प्रत्येक भारतीय कुलललना के लिए आदर्शस्वरूप है। वह आजकल के भोगवासना-लोलुपता और अधिकारप्रियता के प्रगाढ़ अन्धकार के प्राकृतिक युग में ज्योति के स्तम्भ का काम देती है। वैदिक धर्म में पति और भार्या का सम्बन्ध केवल शारीरिक नहीं है। दैहिक सुखोपभोग ही इसका उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह सम्बन्ध दो आत्माओं का शाश्वतिक सम्बन्ध होता है, जो जन्म-जन्मान्तर तक अविच्छिन्न रहता है। इसीलिए वैदिक सिद्धान्तानुसार पति वा पत्नी के मरण पर पुनर्विवाह निषिद्ध है। आर्य शास्त्रों में विवाह का प्रयोजन रति सुख नहीं बतलाया गया, किन्तु धर्मपालन के लिए ही यह सम्बन्ध किया जाता है और इसी लिए पत्नी को धर्मपत्नी कहते हैं, जिसमें शब्दशास्त्र के नियम से 'अश्वघासादिवत् तादर्थ्य समास' होता है, जिसका अर्थ यही है, जो धर्म पालने के लिए पत्नी बनाई जाय वह 'धर्मपत्नी' कहलाती है। सती शिरोमणि सीता का जीवन इस आदर्श का ज्वलन्त उदाहरण है। वे श्री रामचन्द्र से आजीवन निर्वासन का परम दारुण दुःख पाकर भी यह प्रतिज्ञा करती हैं—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता नच विप्रयोगः॥

रघुवंश, सर्ग १४, श्लोक ६६॥

मैं प्रसव के पश्चात् सूर्य में दृष्टि लगाकर इसलिए तप करूँगी कि जिस से दूसरे जन्म में भी आप ही मेरे पति हों और हमारा वियोग न हो।

धन्य, पतिपरायणा सीता, धन्य !! यह वाक्य आप की ही पवित्र जिह्वा से निकल सकता था। पवित्र भारतवर्ष इस समय भी आपके ही तपोबल से जीवित है और आगे भी आपका ही पवित्र चरित्र उसको इस धराधाम पर स्थिर बनाए रक्खेगा। धन्य, सती सीते, धन्य ! धन्य, आपका 'सती सीता' नाम ही सतियों की सर्वोत्कृष्ट उपाधि बन गया है। आजकल भी भारत की सती साध्वी 'सती सीता' कहलाती हैं। भगवती सीता के सतीत्व की कीर्ति आसूर्यचन्द्र अचल-अमर बनी रहेगी।

पद्धति

श्रीसीताष्टमी पर्व की पद्धति भी अन्य वीरपर्वों और जयन्तियों के गृह्य और सामाजिक कृत्यों के अनुसार है, परन्तु सामान्यप्रकरण की पद्धति के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा २ आहुति अधिक दी जांय—

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जसम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ १ ॥
अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयश्चन ॥ २ ॥

यह पर्व विशेषतः भारत की कुल देवियों के शिक्षा ग्रहण के लिए उद्दिष्ट और अभिप्रेत है, इसलिए इसमें उनको विशेष भाग लेना चाहिये और उसका सारा प्रबन्ध उन्हीं के हाथों में होना चाहिये। इस अवसर पर पर्व के आनन्द वर्धनार्थ कन्याओं की बालोद्यानादि मनोरञ्जक क्रीड़ाओं की आयोजना होनी चाहिए।

श्रीसीता

(१)

सुन्दर भोजन वस्त्र, राजसुख जिसने छोड़ा।
सास, ससुर, परिवार-प्रेम का बंधन तोड़ा ॥

हठ कर पति के संग विपिन में रहना चाहा।
सह कर कष्ट कठोर पतिव्रत धर्म निबाहा॥

(२)

भारत के कवि कीर्ति न जिसकी कह थकते हैं।
उस देवी को भूल कभी क्या हम सकते हैं।
जब तक हिन्दू जाति धरातल पर जीवित है।
तब तक उसकी कीर्ति-कथा सादर संचित है॥

(३)

हृदय में यदि जाति-द्वेष का विष न बहेगा।
देश-भेद-भय सच्चरित्रता में न रहेगा॥
तो उस का सम्मान सभ्य संसार करेगा।
मान उसे आदर्श नारि-जीवन सुधरेगा॥

(४)

जनकसुता, सुन्दरी, शुभा, साध्वी सुकुमारी।
सती, सुशीला, सदाचारिणी, विदुषी नारी॥
रामप्रिया, पति-भक्ति-भूषिता थी वह सीता।
अब तक है हृदयस्थ, काल यद्यपि अति बीता॥

(५)

दशरथ ने युवराज, राम को करना चाहा।
राज्य-भार अधिकार उन्हीं पर धरना चाहा॥
सुनकर प्रजासमेत राजकुल ने सुख माना।
पर कैकेयी रूठ गई, उसने हठ ठाना॥

(६)

भूप मनाने लगे—'प्रिये, माँगो, मैं दूँगा।
करता हूँ प्रण अटल, कहोगी वही करूँगा'॥

पति को वश में जान, कहा उसने, ये वर दो ॥
सच्चे हो तो सफल-मनोरथ मुझ को कर दो ॥

(७)

भरत बने युवराज, राम हों कानन-वासी।
सुनते ही गिर पड़े भूप, छा गई उदासी ॥
पितु के प्रण की बात राम ने जब सुन पाई।
राज छोड़ बन चले राम लछमन दोउ भाई ॥

(८)

रो कर हाय, अचेत गिरी कौशल्या माता।
बढ़ा हर्ष में शोक, विमुख हो गया विधाता ॥
सुना शोक-संवाद, विकल सीता उठ धाई।
करती हुई विलाप, राम के सम्मुख आई ॥

(९)

निष्ठुर बनो न आर्यपुत्र करुणा उर धारो।
दासी को ले साथ नाथ, वन ओर सिधारो ॥
वन के कष्ट सहर्ष आपके साथ सहूँगी।
नाथ तुम्हारे विना स्वर्ग में भी न रहूँगी ॥

(१०)

सुख से पति के साथ बसूँगी निर्भय बन में।
कुटिया का आनन्द कहां है राजभवन में ॥
साथ ले चलो नाथ, नहीं जीवित न रहूँगी।
कैसे विषम-वियोग-दुसह दुख हाय, सहूँगी ॥

(११)

सुन सीता के वचन राम श्रद्धा में साने।
उमड़ा प्रेम समुद्र, लगे उसको समझाने ॥

दुर्गम वन का भूरि भयानक दृश्य दिखाया।
पशु, निशिचर, गिरि, नदी आदि से बहुत डराया॥

(१२)

पर पति-प्रेम-सरोज-भ्रमर सीता के मन में।
कंटक-भय ने नहीं विषाद बढ़ाया वन में॥
हठ कर पति के संग रही वह वन वन फिरती।
राक्षस द्वारा कभी विषम संकट में घिरती॥

(१३)

खा केवल कंदमूल फल, भूपर सोती थी।
वल्कल वस्त्र लपेट न मन-मलिना रोती थी॥
वन के दारुण कष्ट धैर्य धर कर सहती थी।
पतिसेवा में मग्न-प्रसन्न सदा रहती थी॥

(१४)

पंचवटी में पहुंच राम ने कुटी बनाई।
सीता देवी सहित बसे वे दोनों भाई॥
धोखा दे कर उन्हें चोर लंकेश अभागा।
सूनी पाकर कुटी जानकी को ले भागा॥

(१५)

विनती करने लगा—कहा, "बन मेरी रानी"।
पर सीता ने झिड़क कहा—'सुन रे अज्ञानी!
चोर, नीच, निर्लज्ज चुरा कर लाया मुझ को।
इसका दण्ड कठोर अवश्य मिलेगा तुझ को'॥

(१६)

पापी मेरे साथ मृत्यु आई है तेरी।
अब तू अपने सर्वनाश में समझ न देरी॥

रहा मानना दूर, बात सुन भी न सकूँगी।
प्राणेश्वर से रहित कभी मैं जी न सकूँगी॥

(१७)

सागर में पुल बांध उतर कर डाला डेरा।
बानर-सेन, सबंधु राम ने लंका घेरा॥
बेटा-बन्धु-समेत दुष्ट रावण को मारा।
मिला अलौकिक सती जानकी को छुटकारा॥

(१८)

वन-निवास की अवधि वर्ष चौदह जब बीते।
कहा राम ने—'चलो अवध हे लक्ष्मण सीते'॥
सीता लक्ष्मण राम अयोध्या में फिर आये।
मिल कर जननीबंधु, मित्र से अति सुख पाये॥

(१९)

निष्कलंक सच्चरित जानकी ने दिखलाया।
पड़ रावण के हाथ सतीत्व स्वधर्म बचाया॥
दृढ़ पतिव्रता भारतीय ललना हैं जैसी।
पृथ्वी भर के किसी देश में कहीं न वैसी॥

(कविवर श्रीरामनरेश त्रिपाठी)

दयानन्द-जन्म दिन

वा

दयानन्द-बोधरात्रि

फाल्गुन बदि १४

(वीर छन्द)

विश्वविदित गुजरात देश में, टङ्कारा इक सुन्दर ग्राम।
उसमें था औदीच्य ब्राह्मणों, का कुल बहुश्रुत एक ललाम॥
पुत्र लालजी के कर्सनजी, थे उसके मुखिया अभिराम।
महादेव में अविचल श्रद्धा, उनकी रहती आठों याम॥ १॥
उनके कुलदीपक दयालजी, थे जन्मे अति प्रतिभावान्।
शिवरात्रि-व्रतपूजन में थे, पित्राज्ञा से श्रद्धावान्॥
शिवमन्दिर में निशि भर जागे, अटल ध्यान हो निष्ठावान्।
पर शिवपिण्डी पर चूहे की, लीला देख हुए हैरान॥ २॥
बोध हुआ उनको तब ही से, हो नहीं सकता शिव पाषान।
है यह जगती तल में फैला, जड़-पदार्थ-पूजा अज्ञान॥
निराकार शिव की पूजा ही, है वेदोक्त सनातन ज्ञान।
इसी ज्ञान की महिमा से वे, दयानन्द बन गए महान्॥ ३॥

(रुचिरा)

उस ही दिन से शिवरात्री भी, बोधरात्रि विख्यात हुई।
बोधदान से आर्यजनों को, महिमा उसकी ज्ञात हुई॥

पर्वरूप में तब ही से वह, जनता में सुप्रसिद्ध हुई।
उसे मना कर आर्यमण्डली, वास्तव-ज्ञान-समृद्ध हुई ॥ ४ ॥
(पं० सिद्धगोपाल कविरत्न)

इस संसार में नाना प्रकार की साधारण घटनाएं सर्वसाधारण के समक्ष प्रतिदिन होती रहती हैं, जनसाधारण की दृष्टि में वे कोई महत्त्व नहीं रखतीं। जनता एक क्षण में उन पर दृष्टिपात करती है और दूसरे क्षण में उनको भूल जाती है। किन्तु यही साधारण घटनाएं महापुरुषों के जीवन में महापरिवर्तन उत्पन्न कर देती हैं। इतिहास साक्षी है कि अति साधारण घटनाओं ने जगत् में बड़ी २ क्रान्तियाँ कर दी हैं।

साधारण रोगियों, वृद्धों, शवों (मुर्दों) की ले जाई जाती हुई रथियों और संन्यासियों को सहस्रों जन प्रतिदिन देखते हैं, किन्तु इन्हीं साधारण दृश्यों ने शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ को वह बोध प्रदान किया जिसका प्रभाव संसार के आधे मनुष्यों पर अब तक विद्यमान है। इन्हीं दृश्यों से उद्बुद्ध बुद्ध की दया ने करोड़ों प्राणियों की निर्दय रक्तपात से रक्षा करके संसार में करुणा और सहानुभूति का स्रोत बहाया था।

वृक्षों पर से फलों को गिरते हुए नित्य ही लक्षों मनुष्य देखते हैं, किन्तु आइज़क न्यूटन की दिव्य दृष्टि ने एक वृक्ष से फल के पतन को देख कर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के नियम का साक्षात्कार किया।

बटलोई की भाप अपने ऊपर के ढक्कन को अनेक मनुष्यों के नेत्रों के सामने हिलाती रहती है, किन्तु न्यूकोमेन की दूरगामिनी बुद्धि ही उसमें वर्तमान वाष्प-इंजन का बीज देख सकी।

वृक्ष के पत्रों में से छनता हुआ सूर्य का आलोक बहुधा मनुष्यों की दृष्टि के सामने आता रहता है, किन्तु इटली निवासी पोर्टा महानुभाव ने एक वृक्ष के नीचे मध्याह्न में विश्राम करते हुए इसी दृश्य को देख कर आलोक-चित्र (फ़ोटोग्राफ़ी) का मूल सिद्धान्त ढूँढ निकाला।

इसी प्रकार की एक घटना आज हमारे प्रस्तुत प्रकरण से सम्बन्ध

रखती है, जिसने वर्तमान शताब्दी के भारत के धार्मिक इतिहास में अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न करदी।

गुजरात प्रायद्वीप के मौरवी राज्य में मच्छुकाटा के इलाके में 'टङ्कारा' एक ग्राम है। संप्रति यह ग्राम बड़ोदा राज्य के अन्तर्गत है। उसमें गुजराती ब्राह्मणों की औदीच्य शाखा का दाल्भ्यगोत्रीय एक समृद्ध सामवेदी कुटुम्ब चिरकाल से वास करता था। उसकी अल्ल त्रिवेदी थी। शिवपुराणोक्त शैवसंप्रदाय में इस कुल की असीम आस्था थी। वह बड़ी भक्ति से कैलाशाधिपति महादेव की पूजा-अर्चा में तत्पर रहता था और शैवों के शिवरात्रि पर्व को बड़े समारोह से मना कर विधि-अनुसार व्रत रखता था। पं० करसनजी लालजी तिवारी इस कुटुम्ब का प्रमुख पुरुष था। तिवारी त्रिवेदी पद का अपभ्रंश है और करसनजी के पिता का नाम लालजी था। करसनजी के कई सन्ततियां थीं। उनमें से उनके एक पुत्र का नाम दयाराम वा दयालजी था। दयालजी बड़ा प्रतिभाशाली बालक था। ५ वर्ष की अवस्था में उसने देवनागरी अक्षर सीख कर बहुत से स्तोत्र और श्लोक कण्ठाग्र कर लिए थे। आठवें वर्ष उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और वह अपने सम्प्रदायानुसार सन्ध्यावन्दनादि कर्म करने लगा। उसके पिता ने सामवेदी ब्राह्मण होने पर भी रुद्राष्टाध्यायी से युक्त होने के कारण उसको यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया था और पार्थिव-पूजन आदि का उपदेश दिया था। चौदह वर्ष की अवस्था में दयालजी को नियमपूर्वक शैव मत की दीक्षा देने की तैयारी की गई और शिवरात्रि की महारात्रि का महापर्व इसके लिए उचित चुना गया। गुजरात देश में शिवरात्रि का पर्व माघ बदि १३ को होता है और उत्तर भारत में फाल्गुन बदि १४ को यह पर्व मनाया जाता है। इस अन्तर का कारण यह है कि दक्षिण भारत में अमावस्यान्त और उत्तर भारत में पूर्णिमान्त मास की गणना प्रचलित है। संवत् १८९४ वैक्रमी की शिवरात्रि को दयालजी नियमपूर्वक व्रत रखकर रात्रि जागरण के लिए पिता के साथ ग्राम से

बाहर वर्तमान अपने कुल के शिवमन्दिर में गया। रात्रि के प्रथमार्द्ध की पूजा के पश्चात् उसके पिता आदि निद्रा के वशवर्ती हो गये, किन्तु श्रद्धालु बालक दयालजी भक्ति के आवेश में आंखों पर जल के छींटे मार २ कर जागता रहा। कुछ देर पश्चात् वह क्या देखता है कि एक मूषक (बालक की मातृभाषा गुजराती में उसका नाम 'औंधर' था) शिव की पिण्डी पर आकर चढ़ावे के अक्षत आदि खाने के लिए उछल-कूद मचाने लगा। दयालजी के बाल हृदय में उस को देखकर शङ्काओं का समुद्र उमड़ पड़ा। वह अपने मन में सोचने लगा कि शिव तो पुराण में विकराल गणों, पाशुपत अस्त्र और त्रिशूल से युक्त, वर और शाप देने में समर्थ, सर्वशक्तिमान् वर्णित है। यह कैसे सम्भव है कि अपनी मूर्ति पर से वह इस चूहे को भी नहीं हटा सकता? इस आशंका ने दयालजी की तर्कणा शक्ति में ऐसा आघात-प्रतिघात उत्पन्न किया कि उसी क्षण से उस को पाषाण की पिण्डी के शिव न होने का निश्चय हो गया और उसने उसी समय सत्य शिव की गवेषणा का सङ्कल्प धारण कर लिया। उसने तत्काल अपने पिताजी को जगाया और अपनी शङ्का उनसे निवेदन की। उन्होंने उसकी शङ्का के समाधान का नाना प्रकार से उद्योग किया, किन्तु दयालजी का सन्देह निवृत्त न हुआ, तब उसने अपने मन में यह व्रत दृढ़ कर लिया कि मैं शिव का साक्षात्कार किए विना उसका पूजन कदापि न करूंगा।

चूहे की इस क्षुद्र घटना ने ही दयालजी के दयानन्द बनने का सूत्रपात किया। आगे की घटनावली केवल उसकी सहायक मात्र थी, वह क्रिया-प्रतिक्रिया की क्रममात्र थी। वस्तुतः इस शिवरात्रि ने ही दयानन्द को बोध प्रदान किया था और वही दयानन्द के जीवन भर के मूर्तिपूजा के विरुद्ध विकट संग्राम का आदि कारण थी। इसी लिए उस को आर्य-समाज के इतिहास में 'दयानन्द-बोधरात्रि' कहते हैं और आर्यसामाजिक परिवारों में उस दिन प्रत्येक वर्ष दयानन्द बोधरात्रि नाम का पर्व मनाया

जाता है। शायद इस समय, जब कि ऋषि दयानन्द के उद्योग ने मूर्ति-पूजा के विश्वास को जड़ से हिला दिया है, साधारण दृष्टि में दयानन्द बोधरात्रि का उतना महत्त्व न जंचे, किन्तु आर्यसमाज के आचार्य के कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व की मूर्तिपूजा की दशा पर जब हम दृष्टि-पात करते हैं तो दयानन्द बोधरात्रि के प्रभाव का पूर्ण चित्र हमारे हृदय पटल पर अङ्कित हो जाता है। उस समय मूर्तिपूजा के विरुद्ध एक शब्द का भी उच्चारण हिन्दू धर्म के मूल पर कुठाराघात समझा जाता था और ऐसा करने वालों को नास्तिक की उपाधि तत्काल मिलती थी। महाभारत युद्ध के पश्चात् वेदानुयायियों में अनेक सिद्धान्तों पर मतभेद रखने वाले बहुत से मतप्रवर्तक उत्पन्न हुए हैं, किन्तु वेद के प्रमाणों के आधार पर मूर्तिपूजा के खण्डन का गौरव वेद के अद्वितीय भक्त, आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द को ही प्राप्त है। ऋषि दयानन्द के आविर्भाव से पूर्व, मूर्तिपूजक जनता मूर्तियों को साक्षात् उपास्यदेव मान कर ही पूजती थी और अब तक सर्वसाधारण अज्ञ जनों की यही भावना है। किन्तु ऋषि दयानन्द के मूर्तिपूजा का प्रबल परिहार करने पर सनातनी पण्डितों ने इस नवीन युक्ति का आश्रयण आरम्भ किया था कि मूर्तियां तो केवल चित्त की एकाग्रता का साधन मात्र हैं। वे मूर्तिपूजा के अर्थ मूर्तेः पूजा = मूर्ति की पूजा छोड़ कर मूर्तौ पूजा = मूर्ति में पूजा करने लगे। परन्तु दयानन्द की दीर्घ दृष्टि ने खूब ताड़ लिया था कि ये युक्तियां पुजारियों के द्रव्यापहरण के हथखण्डे हैं और अपने अनुयायिओं की बुद्धियों को जड़ बनाए रखने का साधन मात्र हैं। ऋषि दयानन्द ने भले प्रकार अनुभव कर लिया था कि इस समय मूर्तियों के मन्दिर दुराचार के दुर्गम दुर्ग बने हुए हैं। अधिकांश मादक-द्रव्य-सेवी मूर्खों, भंगेड़ियों, गञ्जेड़ियों और मद्यपों को काली भैरव, और महादेव के मन्दिरों में ही शरण मिलती है और वहीं उनका जमाव रहता है। स्वेच्छाचारी और अनाचारी महन्तों की सम्पत्तिशालिता के साधन भी यही मन्दिर हैं, इसलिए जब तक

इनकी जड़-मूर्तिपूजा का उन्मूलन भारत से न होगा, तब तक यथार्थ ज्ञान के प्रसार और भारत माता के उद्धार की आशा दुराशामात्र है। इसी विचार-परम्परा ने महर्षि दयानन्द को मूर्तिपूजा के घोर विरोध के लिए उद्यत और कटिबद्ध किया था और उसका परिणाम आपके नेत्रों के सामने स्पष्ट उपस्थित है कि चाहे हमारे पौराणिक भाई अपने मुख से स्वीकार करें वा न करें, पर अन्तःकरण में वे इस को भली प्रकार जानते हैं कि साक्षर जनता का विश्वास मूर्ति पूजा से उठ चुका है। इतना तो सनातनी पण्डित भी अवश्य कहने लगे हैं कि मूर्तिपूजा केवल अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानियों को उसकी आवश्यकता नहीं है। क्या यह धार्मिक जगत् में बोधरात्रि की की हुई महाक्रान्ति नहीं है कि जिस मूर्तिपूजा की जड़ को महमूद गज़नवी का खड्ग और औरङ्गज़ेब का अत्याचार अपने बल से न हिला सका था उसको महर्षि दयानन्द के प्रबल तर्क तथा प्रचार ने मृदुतापूर्वक खोखला कर दिया। अब समझदार सनातनी भी मूर्ति-मन्दिर-निर्माण की निरर्थकता को भले प्रकार समझ गए हैं और वे भी स्थान स्थान पर विद्यालय, ऋषिकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, स्कूल और कॉलेज खोल रहे हैं। ये बातें दर्शा रही हैं कि आर्यसन्तान वास्तविक मन्दिरों के स्वरूप को जान गई है और उस स्वरूप को उनके समक्ष लाने वाला दयानन्द ही था।

बोधरात्रि का वृत्तान्त दयानन्द के व्रत की दृढ़ता का भी सूचक है। उसने केवल १४ वर्ष की बाल्यावस्था में जो व्रत ग्रहण किया था, उसको आजीवन निभाया। मूर्तिखण्डन छोड़ देने के लिए उस को नाना प्रकार के प्रलोभन और भय दिखलाये गए, किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। उदयपुर राज्य की घटना आर्यसामाजिक पुरुषों को ज्ञात ही होगी कि उन के शिष्य उदयपुराधीश्वर महाराणा सज्जनसिंह ने उनसे निवेदन किया था कि उदयपुर का राज्य एकलिंगेश्वर महादेव के मन्दिर के अधीन है। यदि आप यहाँ मूर्तिपूजन का खण्डन न करें तो इस

मन्दिर की गद्दी आप को मिल सकती है, जिस से आप का कई लाख रुपये पर अधिकार हो जायगा। यह सुन कर स्वामीजी को बहुत क्रोध आया और उन्होंने कहा कि "तुम मुझको तुच्छ लालच देकर बड़े बलवान् ईश्वर की आज्ञा तुड़वाना चाहते हो। यह छोटी सी रियासत और उसका मन्दिर कि जिस में से मैं एक दौड़ से बाहर जा सकता हूं, मुझे कभी भी वेद और ईश्वर की आज्ञा के तोड़ने पर बाधित नहीं कर सकते।" (यह उक्ति पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंडया की बतलाई हुई पं० लेखरामजी आर्यपथिक-संगृहीत महर्षि की जीवनी में दी हुई है)। यह सुन कर महाराणा साहब ने उनके धार्मिक भाव से चकित होकर निवेदन किया कि "महाराज मैंने यह सब इस लिए कहा था कि मैं देखूं कि आप इसके खण्डन पर कितने दृढ़ हैं? अब मेरा निश्चय पहिले से बहुत अधिक दृढ़ हो गया है कि आप वेद की आज्ञा पालने में दृढ़ हैं।" ऐसे ही दृढ़व्रती और अविचलित निश्चय पुरुषों से संसार का कल्याण होता है, जो बाल्यावस्था में ही दयानन्द और बुद्ध आदि के समान साधारण घटनाओं से भी बोध प्राप्त करके अविद्यान्धकार को हटा कर ज्ञानज्योति का प्रसार करते रहते हैं।

आर्य महाशयों को दयानन्द-बोधरात्रि से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह साधारण घटनाओं को भी दीर्घदृष्टि से अवलोकन करने का अभ्यासी बने और अपने अंगीकृत व्रत को प्राणपण से पालता रहे। दयानन्द-बोधरात्रि को प्रत्येक आर्य के यहाँ ऋषि दयानन्द के गुणों का कीर्तन होना चाहिए। अतः ऋषि की वास्तविक जन्मतिथि ज्ञात न होने के कारण उस दिन आर्यसंसार उनकी जयन्ती मनाने में असमर्थ हैं, इस लिए बोधरात्रि को ही उनकी जयन्ती मानकर उस का मनाना उचित है, क्योंकि तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो वही वास्तविक दयानन्द की जन्मदात्री है।

पद्धति

श्रीमद्दयानन्द जन्मदिवस समस्त आर्यसमाजों में प्रान्तीय श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभाओं द्वारा निर्धारित दयानन्द सप्ताह के रूप में निम्न-लिखित कार्यक्रमानुसार मनाया जाता है—

कीर्त्तन – प्रतिदिन सूर्योदय से २ घड़ी पूर्व नगर १ और ग्राम २ में टोलियाँ बना कर कीर्तन करना चाहिए।

यज्ञ—कीर्तन के पश्चात् मंदिर में सार्वजनिक यज्ञ किया जाना चाहिए। यथासम्भव इस सप्ताह में सम्पूर्ण यजुर्वेद संहिता से बृहद् यज्ञ की योजना की जाय।

प्रचार—आर्य-मंदिरों अथवा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर विराट् सभाओं की योजना करना और उनमें वैदिक-सिद्धान्तों तथा ऋषि जीवन पर विद्वान् पुरुषों के व्याख्यान कराना, पुरुषों तथा ग्रामों में ट्रैक्ट बाँट कर व्याख्यान तथा मैजिक लैन्टर्न द्वारा प्रचार करना चाहिए। प्रचार में अधिक ध्यान नैतिक (Moral) उन्नति की ओर दिया जाय। विशेष योग्य व्यक्तियों को आर्यसमाज का सभासद बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अयोग्य आदमियों को सर्वथा आर्य सभासद न बनाया जाय। जो ऐसे लोग आर्यसमाज में पहिले ही से प्रविष्ट हों, उन्हें सच्चा आर्य बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

दलितोद्धार—इस सप्ताह में अछूत मानी जाने वाली जातियों में विशेष प्रकार से जा-जा कर प्रचार करना चाहिए। उनकी दबी हुई आत्मा को स्वाभिमान के भाव भरकर उठाना चहिए।

सहभोज—आर्यजाति में पारस्परिक प्रेम-वृद्धि के हित सप्ताह में एक दिन सहभोज की भी योजना की जाय। नीच-ऊँच के भावों को भुलाकर आर्यमात्र को सहभोज में सम्मिलित होना चाहिए।

ऋषिबोध पर्व

फाल्गुन बदि १४

प्रात:—समस्त आर्य सजन तथा देवियाँ मंदिर में एकत्रित होकर :

१—कुछ काल वेद पाठ करें ।

२—साधारण यज्ञ किया जाय ।

३—आत्मोद्धार सम्बन्धी भजन गान किये जायें ।

४—ऋषि ग्रन्थों की कथा ।

५—तथा आर्यधर्म के प्रचार करने का व्यक्तिगत निश्चय करें ।

मध्याह्न—विशेष नगरकीर्तन किया जाय । कीर्तन अधिक से अधिक गम्भीर तथा प्रभावोत्पादक होना चाहिए । आर्य पुरुषों, कुमारों, देवियों की टोलियाँ बना २ कर स्वयं भजन गाने चाहिए । भजनों में प्रभुभक्ति, ऋषिमहिमा, देश-प्रेम, जातीय गौरव तथा आत्मसुधार के ही विशेष भाव होने चाहिए ।

सायं—दीपमालिका के उपरान्त मंदिरों में वेदोपदेश तथा ऋषि-जीवन पर विशेष प्रकाश डालने वाले व्याख्यान होने चाहिएं । आज की इस ज्ञान-रजनी में अन्त में मंदिर में शान्तिपाठ करके आर्यजन अपने अपने गृह जाकर अपने जीवन को अधिक से अधिक उच्च तथा परोपकारी बनाने का शुभ संकल्प धारण करें, इसी में इस पर्व की सफलता है ।"

श्रीमद्दयानन्द-शिवरात्रि

था वसन्त, पर आर्य-जाति-वर-लता नहीं फूली थी,
ब्रह्मचर्य-आदित्य-किरण तन-गगन नहीं झूली थी ।
क्षमता-शीतल-मेल-मलयमय स्नेह-समीर नहीं था,
कण्टक-विघ्न-दलन, रसग्राही वरा-वीर नहीं था ॥ १ ॥

सामगान-कोयल-कूजन-ध्वनि नहीं सुनाई देती थी,
विद्याचन्द्र-विकास-चन्द्रिका नहीं दिखाई देती थी ।
निठुर-जाड्यवश ठिठुरे जन में जीवन-ज्योति नहीं थी,
दूर-दूर के हिम-डाकू से पतझड़ लूट कहीं थी ॥ २ ॥
तिमिराच्छन्न गगन धरणी में काल-रात्रि थी छायी,
था अन्धेर मचा बछिया के बाबा की बन आयी ।
पूर्ण चन्द्रमा, दीप अनेकों जो घर-घर जलते थे,
भानुविभा ये सब मिल कर भी उसे न हर सकते थे ॥ ३ ॥
मुरझाती साहित्य-वाटिका माली सुधि भूले थे,
अमल कमल की विमल क्यारियों में जलते चूल्हे थे ।
जाई, केतकि, वकुल, मालती, तज कनेर तकते थे,
रुचि-बिगड़े कुछ अन्धे भौंरे चम्पा पै मरते थे ॥ ४ ॥
अपनी भाषा भाव सभी कुछ भूल मरे—जीते थे,
दिन कटते थे श्वासा थी पर तन जीवन-रीते थे ।
अपूज्य की पूजा होती थी पूज्य सताये जाते,
देवी-देव न कुछ कर सकते, मूषक* मौज उड़ाते ॥ ५ ॥
फाल्गुन कृष्ण-चतुर्दशी की थी रात्रि महाकल्याणी,
"शिव-शङ्कर" से फाग मचाता, एक निरकुश प्राणी ।
मठाकाश में दीपशिखा, नभ मलिन ज्योति छाई थी,
दयानन्द के घटाकाश में ज्ञान-ज्योति आयी थी ॥ ६ ॥
ऊपर तारागण मुसकाते, मन्दिर सजा हुआ था,
महामस्त मूषक मनमाना खाना मिला हुआ था ।
आसपास सोए सुमनों† में विकच प्रसून‡ लसा था,

* चोर और चूहा ।

† सोए सुमनों = सोए हुए पुजारी आदि और देवता जड़, मूर्त्ति ।

‡ विकच प्रसून = खिला हुआ फूल (चैतन्य) दयानन्द ।

नैसर्गिक नीरस वसन्त में सरस वसन्त बसा था ॥ ७ ॥
अर्धनिशा बीती, निद्रा ने भक्त स्ववश कर डाले,
एक एक कर पड़े पुजारी सब ही ढीले—ढाले ।
भक्त तो हुए, भूतनाथ भी निद्राधीन बने थे,
केवल बालक दयानन्द ही व्रत में डटे-तने थे ॥ ८ ॥
प्रकृति सुन्दरी भी सोई थी काली कम्बली *ताने;
नील | कमल-मुख-गगन खुला था क्षितिजरूप सिरहाने ।
वदन ‡ गगन पर चन्द्र-विन्दु कुछ रहा छटा सरसाता,
काली कम्बली को कुछ कुछ था अपने रङ्ग रङ्गाता ॥ ९ ॥
शीत-भीति वश वह भी पीछे कम्बली में घुस भागा,
काला कालाकार वही फिर अन्धकार का जागा ।
थे निस्तब्ध सभी नीरवता ने रङ्ग जमाया,
अवसर था चोरों का आया, चूहे का मन भाया ॥ १० ॥
"चूँ चीं" कर निज पूँछ नचाता चञ्चल चूहा आया,
भोज्य देख "चूँ चीं" कर उसने अपना हर्ष जताया ।
लिंग, घण्ट, दीपक सब चुप थे, चुप्प बना था नन्दी,
कौतूहल कुछ देख रहे थे, दयानन्द आनन्दी ॥ ११ ॥
चूहे की चञ्चलता को लख शङ्कर चित्र बना था,
दयानन्द सन्दिग्ध बना था 'नीरव' मित्र बना था ।
मूर्ति-भूत शङ्कर पर चढ़ता, डरता शङ्कर जी से,
भेंट चढ़ावे को चट करता चूहा "चूँ चूँ चीं से" ॥ १२ ॥

---

* कम्बली = अन्धेरी रात्रि ।

| नीले कमल के समान आकाशरूपी मुख । प्रकृति का क्षितिज (उफ़क़ = Horizon) रूपी सिरहाने पर आकाश रूपी मुखमण्डल था ।

‡ गगनरूपी मुख पर चन्द्र रूपी विन्दु (विन्दी) ।

बड़ी भूख चूहे की, शङ्कर-मूर्त्ति-महत्ता भागी,
दयानन्द-सन्दिग्धचित्त में ज्ञान-पिपासा जागी।
"रुद्र, पिनाकी, भूतनाथ, शङ्कर जिसको कहते हैं,
त्रिपुरासुर का हन्ता, जिसको यहाँ सभी भजते हैं॥ १३ ॥
जो खाता, विचरण करता है"—यों पुराण कहते हैं,
क्या यह वह ही महादेव! जिस पर चूहे चढ़ते हैं?
नहीं कहता, करता, कुछ खाता-पत्थर क्या भक्षेगा,
अपनी रक्षा में अक्षम है, हमको क्या रक्षेगा?॥ १४ ॥
महामूर्खता, घोर पाप था, इसे उपास्य बनाना,
ढकोसला है, वञ्चकता है, जड़ को रुद्र बताना।
जड़ की पूजा करते जन भी जड़ बनते जाते हैं,
"अब इसकी पूजा न करूँगा" यों कह उठ आते हैं॥ १५ ॥
आन जगाया जल्दी से, फिर वहीं पिता से पूँछा,
"क्यों तुम को सन्देह उठा" यह उत्तर पाया छूँछा।
हुआ नहीं सन्तोष, पिता से पर फिर कुछ नहीं बोले,
स्वयं शुद्ध निज बुद्धि-तुला में निज विचार जा तोले॥१६॥
फल लाया कल्याण-कारिणी चतुर्दशी का आना,
दयानन्द शंकर ने जिस दिन शिवशंकर को जाना।
करुणाकर जगदीश्वर अब भी ऐसी दया दिखावें,
मोह त्याग, बहु भारतवासी भी 'शंकर' बन जावें॥१७॥

(भुजङ्गप्रयात छन्द)

व्रती, ब्रह्मचारी, समुद्धार-कारी,
सदा शंकरी, वेद-विद्या-प्रचारी।
महा-वञ्चकी-वृत्ति-घाती कुठारी,
नमस्ते दयानन्द! आनन्दकारी॥ १८ ॥

(कवि पं० चेतरामजी शर्मा 'ज्योति' पत्रिका देहली से)

दयानन्दोदय

(दोहा)

जान सच्चिदानन्द को, शङ्कर जगदाधार ।
धन्य दयानन्दर्षि ने, सब का किया सुधार ॥

(कवित्त घनाक्षरी)

जिस की पवित्र वेद विद्या मङ्गला के आगे,
पापिनी अविद्या दुःखदा का मुख बन्द है ।
लुक्कड़ लताड़े, मतवाले दर्पहीन किये,
जानता जिसे न ऐसा कौन मति-मन्द है ?
धर्म-धारणा से सारे देशों का सुधार किया,
जिसका अमोघ उपदेश सुखकन्द है ।
सूझी शिवरात्रि को महेश की महत्ता जिसे,
सत्य मूलशङ्कर* वही तो दयानन्द है ॥

(कविवर पण्डित नाथूराम शर्मा)

दयानन्द बोधरात्रि

भारत रत्न * मूलशङ्कर ने, मङ्गल मूल विचार किया ।
होकर दयानन्द ऋषि नामी, जीवन परमोदार किया ॥
कौतुक देख चपल चूहे का, दूर अबोधज रोग किया ।
भवसागर से तर जाने का, परमोचित उद्योग किया ॥
त्याग कुटुम्ब विलास विसारे, बन के गृही न भोग किया ।
ब्रह्मचर्य व्रत धार सिधारे, सिद्ध मनोरथ योग किया ॥
बन कर योगिराज विज्ञानी, वैदिक धर्म प्रचार किया ।
होकर दयानन्द ऋषि नामी, जीवन परमोदार किया ॥

(कविवर पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा)

* महर्षि दयानन्द का बाल्यावस्था का नाम मूलशङ्कर, उपनाम दयालजी था ।

ऋषि-बोधोत्सव

दिक्पाल छन्द

ऋषिराज ! आज तेरा, जग गान गा रहा है ।
चुपचाप चारु चेरा, बन मान पा रहा है ॥ १ ॥
शङ्कर-दिवस न आता, शङ्कर न यदि मनाता ।
शङ्कर न मूल पाता, जो फूल ला रहा है ॥ २ ॥
पितु का निदेश माना, उपवास ठीक ठाना ।
जग तात को जगाना, जग को जगा रहा है ॥ ३ ॥
लखि, चीन्ह चोर चूहा, उपजी कुपास आहा ।
बढ़ बुद्धि-बल विगूहा, विभु को बता रहा है ॥ ४ ॥
शिवरात्रि सत्य ही थी शिव पात्रता सही थी ।
शिव भारती मही थी, जहं ऋषि रमा रहा है ॥ ५ ॥
घनघोर था घनेरा, अज्ञान था अंधेरा ।
घर घूम घूम घेरा श्रुति तेज अब महा है ॥ ६ ॥
आचार्य आर्य आवें, ऋषि बोध दिन मनावें ।
"जग आर्य सब बनावें" आदेश आ रहा है ॥ ७ ॥
बहु वेद-बोध लेवें जन ज्ञान दान देवें ।
श्रुति का सुमार्ग सेवें उत्सव उठा रहा है ॥ ८ ॥
साध्वी स्त्रिया सती हों, जितकाम जन यती हों ।
बस आज सब व्रती हों व्रत दिन बता रहा है ॥ ९ ॥
शिव शान्ति पूर्ण पावें, ऋषि-बोध ज्ञान गावें ।
व्रत, सूर्यसम मनावें कल्याण कर रहा है ॥ १० ॥

(वैदिकधर्म-विशारद, काव्यमनीषी श्रीसूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार)

श्री लेखराम-वीर-तृतीया

फाल्गुन सुदि तृतीया

(६ मार्च)

संसार भावमय है। संसार केवल भाव का प्रसार है। भाव ही संसार में शासन करते हैं। मानव-मन में प्रथम भाव का ही आविर्भाव होता है; उसके अनुसार ही वह क्रिया में प्रवृत्त होता है। साधारण मनुष्यों के मानसरोवरों में भावों के आविर्भाव-तिरोभाव की तरंगें सदा उठती रहती हैं। उनके बहुत से भाव दरिद्रों के मनोरथों के समान उत्पन्न होते ही विलीन हो जाते हैं, किन्तु महाशयों के भाव कार्य में परिणत हुए विना नहीं रहते। महापुरुषों के भाव तो संसार में हलचल मचा देते हैं। जगत् की बड़ी-बड़ी क्रान्तियों के कारण महापुरुषों के भाव ही हुए हैं। संसार के सारे मतमतान्तर महापुरुषों के विविध भावों का ही प्रपञ्च हैं। जब किसी महापुरुष के हृदय पर किसी भाव का बलपूर्वक आघात होता है तभी वह संसार में प्रचार पाता है और किसी विशेष मत का रूप धारण करता है। नाना मतों की संस्थापना की यही प्रक्रिया और यही इतिहास है, किन्तु भावों के आघात-प्रतिघात का प्रभाव भावुक हृदयों पर ही चिरस्थायी होता है और इसलिए संसार में जितने परिवर्तन, विप्लव, क्रान्तियां हुई हैं, वे सब महापुरुषों द्वारा ही हुई हैं। जनसाधारण ऐसे भावुक महापुरुषों को उन्मत्त वा पागल कह कर हँसता है और वे वस्तुतः अपनी धुन में उन्मत्त वा मस्त रहते हैं। संसार के इतिहास

को बनाने वाले विविध धर्मों के संस्थापक अपने विचारों के पीछे पागल बने हुए अपनी धुन के पक्के ऐसे ही उन्मत्त महानुभाव थे। यदि धर्म-संस्थापकों की जीवनियों का मनन किया जाय, तो यह विशेषता उन सब में सामान्य रूप से उपलब्ध होगी। बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, कबीर, दयानन्द, गांधी, सभी अपने विचारों के प्रचार में उन्मत्त प्रतीत होंगे। उनके सिद्धान्तों का प्रसार भी संसार में उनके भावुक अनुयायियों के द्वारा ही हुआ है। बुद्ध के आनन्द आदि प्रमुख भिक्षु, ईसा के पितरस आदि हौवारी, मोहम्मद के अत्युत्साही (जोशीले) अली और उमर आदि ख़लीफ़े, इसके उत्तम उदाहरण हैं।

आज इस शताब्दी के अद्वितीय धर्मसंस्थापक आर्यसमाज के आचार्य महर्षि दयानन्द के एक ऐसे ही भावुक शिष्य और अविश्रान्त धर्मप्रचारक के पवित्र चरित्र की पर्यालोचना का प्रसङ्ग प्राप्त है।

आर्यसमाज के परिमित मण्डल में तो कोई भी ऐसा व्यक्ति न होगा जो धर्मवीर पं० लेखराम आर्यपथिक के नाम और काम को न जानता हो, किन्तु आर्यसमाज से बाहर भी करोड़ों मनुष्य पं० लेखराम के नाम से परिचित हैं। पं० लेखराम की भावुकता ही सर्वसाधारण में उनके इस परिचय की मूलकारण बनी थी। वैसे तो वे पञ्जाब के झेलम ज़िले के एक अप्रसिद्ध ग्राम सैदपुर में एक अप्रसिद्ध सारस्वत ब्राह्मणकुल में जन्मे थे, परन्तु उनमें अपने पितृकुल की सैनिकवृत्ति से आया हुआ शरीर का संगठन तथा क्षात्रतेज का कुछ अंश भी अवश्य विद्यमान था। उनके पितामह महता नारायणसिंह पञ्जाब के सिक्खकालीन विप्लव के वीर योद्धा थे और कई संग्रामों में अपने हाथ दिखा चुके थे। उन्हीं महता नारायणसिंह के पुत्र महता तारासिंह हुए, जिनके पुत्र पं० लेखराम का जन्म ८ सौर चैत्र संवत् १९१५ विक्रमी को शुक्र के दिन उक्त सैदपुर ग्राम में हुआ था।

वे बाल्यकाल से ही भावुक तथा धार्मिक थे। अपने चचा पं० गंडा-

रामजी को एकादशी का व्रत करते हुए देख कर बालक लेखराम ने ११ वर्ष की अवस्था में बड़ी श्रद्धा से एकादशी का व्रत विधिपूर्वक रखना आरम्भ कर दिया था। उनको बाल्यकाल में केवल उरदू फ़ारसी की शिक्षा मिली थी, क्योंकि उस समय पञ्जाब और संयुक्तप्रान्त में उसीके पढ़ाने की परिपाटी प्रचलित थी। यह शिक्षा आगे चल कर उनके मोहम्मदी मत की आलोचना करने में बहुत सहायक हुई। उनके विद्यार्थी-जीवन में केवल यही बात उल्लेख योग्य है कि वे तब भी स्वतन्त्रताप्रिय, प्रत्युत्पन्नमति, तथा तात्कालिक प्रत्युत्तर-प्रवीण थे और कविता की ओर भी उनका कुछ झुकाव था।

संवत् १९३२ वि० के पौष मास में वे अपने चचा पं० गंडाराम इन्स्पेक्टर पुलिस की सहायता से पेशावर पुलिस में सारजेण्ट के पद पर नियुक्त हो गए। ऊपर बतलाया जा चुका है कि पं० लेखराम के बालहृदय में ही भावुकता तथा धार्मिकता का अंकुर विद्यमान था। एक धार्मिक सिक्ख सिपाही के सत्सङ्ग से उनकी प्रवृत्ति पूजा-पाठ में किशोरावस्था से ही हो चुकी थी। वे प्रातःकाल स्नान-ध्यान में निमग्न रहते और गुरुमुखी में लिपिबद्ध भगवद्गीता का पाठ किया करते थे। श्रीकृष्ण की भक्ति में तन्मय रहते थे। जीव ब्रह्मकी एकता के विश्वासी और वैराग्यप्रवण थे। २१ वर्ष की अवस्था में उन के माता पिता ने उन को विवाहबन्धन में आबद्ध करना चाहा, पर उन्हों ने अपने वैराग्यवश उस को स्वीकार न किया। उन की धर्मजिज्ञासा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई। उन्हीं दिनों उन को लुधियाने के प्रसिद्ध स्वतंत्रविचारक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी के ग्रन्थ पढ़ने का अवसर मिला। अलखधारी जी के ग्रन्थों से उन को ऋषि दयानन्द के आर्यधर्म-प्रचार और आर्यसमाज की स्थापना का वृत्तान्त ज्ञात हुआ और उन्होंने डाक द्वारा ऋषि दयानन्द प्रणीत ग्रन्थों को मंगा कर पढ़ना प्रारम्भ किया। उस से उन के विचार सर्वथा बदल गए और वे आर्यसमाजी बन गए। घटनाक्रम की कैसी विलक्षण समानता है कि

प० लेखराम जी के समान इन पंक्तियों के लेखक का भी विचारप्रवाह मुंशी कन्हैयालाल जी अलखधारी की पुस्तकों द्वारा ही आर्यसमाज और उस के आचार्य के ग्रन्थों की ओर फिरा था, किन्तु जूगनू और सूर्य में क्या साम्य हो सकता है ? पं० लेखराम की शुद्ध और भावुक प्रकृति ने उन को ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से प्रभावित करके कर्मवीर आर्यपथिक बना दिया और यह चिकना घड़ा वैसे का वैसा ही विद्यमान है ।

वैदिक धर्मावलम्बी बन कर पं० लेखराम ने संवत् १९३८ वि० के अन्तिम भाग में सीमाप्रान्त के यवनप्राय पेशावर नगर में आर्यसमाज की स्थापना की। उस समय पेशावर आर्यसमाज के सर्वे-सर्वाः वे ही थे । वे और उन के चार पाँच साथियों से ही पेशावर आर्यसमाज संगठित था । पं० लेखराम के मन में जीव ब्रह्म की एकता आदि के विषय में कुछ शंकायें उस समय तक बनी हुई थीं । उन की निवृत्ति के लिए उन्होंने आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द के स्वयं दर्शन करना निश्चय किया और साढ़े चार वर्ष की नौकरी के पश्चात् एक मास की छुट्टी लेकर १७ मई सन् १८८० ई० (सं० १९३७ वै०) को अजमेर पहुंच कर सेठ फ़तमहमल जी की वाटिका में ठहरे हुए ऋषि दयानन्द के प्रथम और अन्तिम वार दर्शन किए । इस समागम का वृत्तान्त उन्होंने स्वयं इस प्रकार लिखा है —

"स्वामी दयानन्द के दर्शन से यात्रा के सब कष्ट विस्मृत हो गए और उन के सत्योपदेश से सब संशय निवृत्त हो गए । उन्होंने महर्षि से उनसे जयपुर में एक बंगाली की उपस्थित की हुई यह शंका पूछी कि जब आकाश और ब्रह्म दोनों सर्वव्यापक हैं तो दो व्यापक एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं ? महर्षि दयानन्द ने एक पत्थर उठा कर कहा कि जिस प्रकार इसमें अग्नि, मिट्टी और परमात्मा तीनों व्यापक हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में आकाश और ब्रह्म दोनों व्यापक हैं । सूक्ष्म वस्तु में उससे भी सूक्ष्मतर वस्तु व्यापक रहती है । ब्रह्म सूक्ष्मतम होने के कारण सर्वव्यापक है ।" लेखराम जी लिखते हैं कि "इससे मेरी शान्ति हो गई ।" उन्होंने महर्षि के

अन्य संशय उपस्थित करने की आज्ञा देने पर उनसे दस प्रश्न पूछे थे। उनमें से ३ उन्होंने उत्तर सहित स्वयं लिखे हैं। शेष उनको विस्मृत हो गए थे।

"१म प्रश्न—जीव ब्रह्म की भिन्नता में कोई वेद का प्रमाण बतलाइये।"

उत्तर—यजुर्वेद का सारा चालीसवाँ अध्याय जीव और ब्रह्म का भेद बतलाता है।

२य प्रश्न— अन्य मतों के मनुष्यों को शुद्ध करना चाहिये वा नहीं ?

उत्तर—अवश्य शुद्ध करना चाहिये।

३य प्रश्न—विद्युत् क्या वस्तु है और कैसे उत्पन्न होती है ?

उत्तर—विद्युत् सब स्थानों में है और रगड़ से उत्पन्न होती है। बादलों की विद्युत् भी बादलों आर वायु की रगड़ से उत्पन्न होती है।

अन्त में मुझे आदेश दिया कि "२५ वर्ष की आयु से पूर्व विवाह न करना।" ऋषि दयानन्द के स्वल्प सत्संग से पं० लेखराम के धार्मिक विचार दृढ़ हो गए और वैदिक धर्म पर उन का विश्वास चट्टान के समान अटल हो गया।

अजमेर से लौट कर उनको दिनरात धर्मप्रचार की ही धुन लगी रहती थी। उन्होंने पेशावर आर्यसामाज की ओर से अपने सम्पादन में "धर्मोपदेश" नामक उरदू का मासिक पत्र जारी कराया। उसके साथ ही मौखिक व्याख्यान भी प्रायः देते रहते थे। कुछ दिनों पश्चात् उनकी बदली पेशावर से अन्य पुलिस स्टेशनों को हो गई। उनकी धार्मिक लगन के कारण उनके विधर्मी अफ़सर उनसे मनोमालिन्य रखने लगे थे। उधर पं० लेखराम की स्वतंत्र आत्मा विगर्हित श्ववृत्ति (सेवावृत्ति) से दिनों दिन खिन्न होती जाती थी। अन्त में उन्हों ने २४ जुलाई सन् १८८४ (सं० १९४१ वै०) की सदा स्मरणीय तिथि को पोलिस की सेवा से त्यागपत्र दे दिया और उस में यह भी लिख दिया कि २ महीने की कानूनी मियाद के पश्चात् मुझ को रोकने का अधिकार किसी को भी न होगा। दो महीने

पश्चात् ३० सितम्बर सन् १८८४ ई० (सं० १९४१ वै०) को उन्होंने मनुष्यों के दासत्व मे सदा के लिए मोक्ष लाभ किया। इस दासत्व-शृङ्खला के कटते ही सारजेन्ट लेखराम पण्डित लेखराम बन गए। अब वे दिन रात आर्यधर्म के प्रचार में रत रहने लगे। एक ओर वह वैदिकधर्म के विरोधियों की आक्षेपपूर्ण पुस्तकों के उत्तर लिखने में संलग्न रहते थे तो दूसरी ओर मौखिक प्रचारार्थ बराबर पर्यटन करते रहते थे। इस अहर्निश की यात्रा के कारण उनका नाम "आर्य मुसाफ़िर" आर्य यात्री वा आर्य पथिक प्रसिद्ध हो गया और वे आर्यजनता में 'आर्यपथिक पं० लेखराम' विख्यात हो गए।

उनके लेखबद्ध प्रचार वा पुस्तक-प्रणयन का सूत्रपात उनके मुसलमानों के अहमदिया सम्प्रदाय के प्रवर्तक क़ादियान ज़िला गुरदासपुर निवासी मिरज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी के साथ संघर्ष से हुआ था। उक्त मिरज़ा ने एक पुस्तक 'बुराहीन-ए-अहमदिया' लिखी थी जिसमें आर्यसमाज पर पर बड़े कटु आक्षेप किए गए थे। पण्डित लेखराम ने उसके उत्तर में में अकाट्य तर्कपूर्ण 'तक़ज़ीब बुराहीन-ए-अहमदिया' ग्रन्थ लिखा। फिर मिरज़ा ने अनुचित आक्रमणों से परिपूर्ण "सुर्म-ए-चश्म आरिया" लिखा जिसके उत्तर में पण्डित लेखराम ने युक्तियों के जाल से जटिल "नुस्ख़-ए-ख़ब्त अहमदिया" प्रणीत किया। मिरज़ा ने घोषणा की थी कि मेरे पास ईश्वर के दूत सन्देश लाते हैं और मैं अलौकिक चमत्कार दिखला सकता हूँ तथा जिस मनुष्य की मृत्यु के लिए मैं ईश्वर से प्रार्थना करूँगा, वह मनुष्य एक वर्ष के भीतर मर जायगा। यदि मैं ये दोनों कार्य न कर सकूँ, तो मैं क़ादियान में अपने पास रह कर उनकी परीक्षा करने वाले मनुष्य को २००) मासिक की दर से २४००) दूँगा। पण्डित लेखराम ने उनके इस आह्वान को स्वीकार कर के उस की परिक्षा करनी चाहिये और उसको २४००) जमा कर देने को लिखा, किन्तु उसने नाना प्रकार के बहाने बना कर टाल दिया। पण्डित लेखराम ने स्वयं क़ादियान पहुंच कर मिरज़ा से मौखिक विवाद किया, जिसमें वह निरुत्तर हो गया। जनता

में उसके हेत्वाभासों और चमत्कारों की पोल खुल गई और उसके बहुत से अनुयायियों पर से उसका प्रभाव उठ गया। मिरज़ा से पण्डित लेखराम का यह संघर्ष दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया और उसने ऐसा भयङ्कर रूप धारण किया कि अन्त में पण्डित लेखराम इसी की बलि हो गए।

पण्डित लेखराम में वैदिक धर्म की रक्षा और उसके प्रचार का उत्साह इतना उत्कट था कि वे जहाँ कहीं भी किसी के वैदिक धर्मत्याग वा शास्त्रार्थ के समाचार सुनते तो सौ काम छोड़ कर विजुली के समान वहीं पहुंचते थे और भूले हुए भाई को बचाने में अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। उनकी संवादपटुता का आतंक तो साम्प्रदायिक संसार में सर्वत्र छाया हुआ था किन्तु कुरानी और किरानी उनकी अकाट्य युक्तियों का विशेषतः लोहा माने हुए थे। वे बड़े मौलवियों और पादरियों को तुरन्त निरुत्तर कर देते थे। पादरियों में तो कुछ परमतसहिष्णुता पाई जाती है, क्योंकि उनको अपनी उदारता और सभ्यता का कुछ अभिमान है, किन्तु इस्लामी भाई अपनी कट्टरता, तात्कालिक उत्तेजना और क्रोधाक्रान्तता के लिए जगद्विख्यात हैं, इसलिए वे विवादों में बहुधा कटूक्ति पर उतर आते थे और पण्डित लेखराम को मोहम्मदी तलवार की धमकियाँ देने लगते थे, परन्तु पण्डित लेखराम प्राणों का मोह छोड़ कर सदा निर्भीकतापूर्वक मुसलमानी मत की असारता दिखलाने से कभी पीछे न हटते थे और उनकी धमकियों का उत्तर वे यह दिया करते थे कि संसार के धर्म शहीदों के रुधिर से ही फूले फले हैं और मैं अपनी जान हथेली पर लिए फिरता हूँ।

उन्होंने बहुत से सम्भ्रान्त सनातनधर्मी समृद्ध कुलों को धर्मभ्रष्ट होने से बचाया था, उनमें मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के जाट रईस चौ० घासीराम और सिन्ध के रईस दीवान सूरजमल और उनके दोनों पुत्रों के नाम उल्लेखनीय हैं।

पण्डित लेखराम भावुकता और धार्मिक श्रद्धा की साक्षात् मूर्ति थे।

श्रीमहात्मा मुंशीराम (वर्तमान श्रीस्वामी श्रद्धानन्द जी) ने इस विषय में उनके सम्बन्ध की एक मनोरञ्जक घटना लिखी है। एक वार प्रशंसित पण्डितजी जालन्धर में ज्वरार्त होकर कन्यामहाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक श्री ला० देवराज जी के बाग़ में ठहरे हुए थे। एक दिन महात्मा मुन्शीराम जी जाकर क्या देखते हैं कि लेखराम जी खट्वा पर पड़े क्रोध से हाँप रहे हैं। उन्होंने कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि लाला देवराज को बुलवाइये। मैं पीठ पीछे बात करना पाप समझता हूँ। ला० देवराज जी बुलवाए गए तो पण्डित लेखराम जी ने क्रोध से कहा कि आप का गृह आर्यगृह नहीं है। अब मैं यहां नहीं ठहरूंगा। महात्मा मुन्शीराम जी ने बाग़ के माली से अनुसंधान किया तो ज्ञात हुआ कि किसी ब्राह्मणब्रुव के नटखट और धूर्त बालक ने पण्डित जी को चिढ़ाने के लिए वा अपनी शठतावश वैसे ही उनके सामने बाग़ के गमलों पर लिखे हुए 'ओ३म्' पर पादत्राण (जूता) प्रहार किया था। पण्डितजी ज्वर चढ़े हुए ही उसको पकड़ने के लिए उसके पीछे भागते फिरे। पर जब वह हाथ न आया तो वे थककर हाँपते हुए क्रोध में भर कर खट्वा पर पड़ रहे। उन्होंने ला० देवराजजी से कहा कि 'ओ३म्' के अक्षरों की अवज्ञा के कारण आप ही हैं। आपने 'ओ३म्' अक्षर युक्त गमलों को ऊंचे स्थान में धूर्त बालक की पहुंच से ऊपर क्यों नहीं रखाया था। महात्मा मुन्शीराम ने बहुत अनुनय-विनय करके उनको शान्त किया।

पण्डित लेखराम एक निःस्पृह, त्यागी और सन्तोषशील ब्राह्मण का उत्तम उदाहरण थे। वे पञ्जाब आर्य-प्रतिनिधि सभा से निर्वाह मात्र २५) और फिर ३५) रु० मासिक लेकर दिन रात वैदिक धर्म की सेवा में व्यस्त रहते थे। उनका गृहस्थ जीवन भी ब्राह्मणोचित और उपदेशकों के लिए सर्वथा अनुकरणीय था। उन्होंने शास्त्रोक्त रुद्रसंज्ञक ब्रह्मचारी की अवस्था को प्राप्त होकर ३३ वर्ष की आयु में ज्येष्ठ संवत् १९५० में मरी पर्वतान्तर्गत भन्न ग्राम निवासिनी कुमारी लक्ष्मीदेवी के साथ आपना विवाह किया

था और विवाह के अनन्तर ही अपनी पत्नी को पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। वे उसको धर्मप्रचार कार्य में भी स्वसहधर्मिणी बनाना चाहते थे। ग्रीष्म संवत् १९५२ वि० में उनके पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नामकरण वैदिक रीति से करके उन्होंने 'सुखदेव' नाम रक्खा। पण्डित लेखराम को वैदिक धर्मप्रचार की धुन में पुत्र और पत्नी का कुछ भी ध्यान न रहता था। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी भी उन्हीं के समान उपदेशिका बन कर भ्रमण करे। इस कार्य के अभ्यासार्थ वह बालक पुत्र सहित उसको भी यात्रा में अपने साथ ले जाने लगे, जिसका फल यह हुआ कि वह छोटा बालक अहर्निश की यात्रा के कष्टों को सहन कर सका और उस ने डेढ़ वर्ष की अवस्था में रुग्ण हो कर जालंधर में इस असार संसार से बिदा ली। पण्डित लेखराम ने बड़ी वीरता से पुत्र-वियोग के दारुण दुःख का सामना किया और वे पूर्ववत् ही धर्मप्रचार यात्रा में तत्पर रहे।

उन्हीं दिनों पञ्जाब की आर्यप्रतिनिधि सभा ने आर्यसमाज के संस्थापक आचार्य महर्षि दयानन्द के प्रामाणिक चरित्र के लिखाने का बीड़ा उठाया और उसकी घटनाओं के अन्वेषणार्थ पण्डित लेखराम की नियुक्ति की गई। इस कार्य के लिए उन्होंने, जहाँ जहाँ महर्षि के साक्षात्कार-प्राप्त पुरुषों से मिल कर उनके बतलाए हुए वर्णनों को उन्हीं के शब्दों में संग्रह किया।

पण्डित लेखराम में ऐतिहासिक तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल थी। उनकी ससीम विद्यासम्पत्ति को देखते हुए, जो काम वे इस विषय में कर गए हैं, वह वस्तुतः विस्मयावह तथा श्लाघनीय है। वे फ़ारसी और अरबी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी आदि योरोपीय भाषाओं से, जिनमें आज कल इतिहास की सामग्री प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत है, सर्वथा अनभिज्ञ थे और देववाणी में भी स्वल्पप्रवेश रखते थे, किन्तु वे अपने परिश्रम के प्राचुर्य से इन न्यूनताओं की पूर्ति कर लेते थे। अपने अज्ञात भाषाओं के जिस किसी ग्रन्थ में उनको किसी नवीन बात की सूचना मिलती थी,

उसका अनुवाद वे अपने किसी मित्र से करा लेते थे। इन त्रुटियों की विद्यमानता में यद्यपि उनका किया हुआ ऐतिहासिक संग्रह पुष्कल और प्रशंसनीय है, तथापि उसमें कहीं २ जो कुछ भ्रम वा प्रमाद पाए जाते हैं, वे सर्वथा क्षन्तव्य तथा उपेक्षणीय हैं। फिर ऐतिहासिक गवेषणा की क्रिया के फल के समान सदैव सर्वथा निर्भ्रान्त तथा एकान्त सत्य तो हो भी नहीं सकता, उसमें विचारवैविध्य के कारण परिणामों की भिन्नता की भारी सम्भावना रहती है, इसी लिए ऐतिहासिक अन्वेषणों के परिणामों में परिवर्तन होते रहते हैं और आगे भी होते रहेंगे। हम को गतगवेषणाओं से लाभ उठाते हुए किसी एक परिणाम का प्रबल पक्षपाती न बन कर सत्यान्वेषण में सदैव प्रयत्नवान् रहना चाहिये। पण्डित लेखराम की संगृहीत महर्षि दयानन्द की जीवनी में साक्षियों के शब्द-प्रतिशब्द मौलिक और लिखित वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े बहुमूल्य हैं। उनसे ऐतिहासिक अन्वेषक को ऊहापोहपूर्वक पक्षपातरहित सत्य पर पहुंचने में बड़ी सहायता मिलती है।

आर्यसमाज के संस्थापक आचार्य के चरित्रसंग्रह द्वारा आर्यसमाज के भूत इतिहास के अन्वेषण और स्व-मौखिक और लिखित प्रचार द्वारा उसके भावी इतिहास के निर्माण में अहर्निश के यात्री बने हुए -पूर्ण आर्यपथिक के अपने पद को सत्य सिद्ध करते हुए— धर्मवीर पण्डित लेखराम के वैदिक धर्म पर बलिदान का समय समीप आ पहुंचा। मोहम्मदी लोग पण्डित लेखराम से पहिले से ही द्वेष रखते थे, उन्होंने उन पर दिल दुखाने और अश्लील लिखने के कई अभियोग मिरज़ापुर, प्रयाग, लाहौर, मेरठ, दिल्ली, बम्बई की फ़ौजदारी अदालतों में दायर किए थे, किन्तु न्यायाधीशों ने पण्डित जी के लेखों में कोई बात भी आक्षेपयोग्य न पा कर उन की तलबी किए बिना ही उन सब अभियोगों को ख़ारिज कर दिया था। इससे मुसलमान और भी अधिक चिढ़ गए और धर्मवीर पर उनके रोष की सीमा न रही। उनकी ओर से पण्डित जी को वध की

धमकियाँ आए दिन मिलने लगीं। किन्तु पण्डित लेखराम भय का नाम ही न जानते थे। वे जगत्पिता प्रभु की कल्याणी वाणी "अभयं मित्रादभयममित्रात्" का अक्षरशः पालन करने वाले थे। आर्यपुरुषों के सावधान करते रहने पर भी उन्होंने कभी अपनी रक्षा का प्रयत्न नहीं किया।

अन्त को फ़रवरी सन् १८९७ (सं० १९५३ विक्रमी) के मध्य भाग में एक काला, गठीले बदन का, नाटा मुसलमान युवक उनके पास आया और उसने अपने आप को हिन्दू से मुसलमान बना हुआ बना बतला कर उनसे अपने शुद्ध किए जाने की प्रार्थना की। धर्मवीर तो पतितों के उद्धार और शुद्धि के लिए प्रत्येक क्षण कटिबद्ध रहते थे। उन्होंने उसको प्रेमपूर्वक अपने पास बिठलाना और धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। इस मनुष्य की आँखों से भयङ्करता बरसती थी। कई पुरुषों ने उनको उससे सुरक्षित रहने के लिए भी चेतावनी दी थी किन्तु उन्होंने उस पर कुछ भी कान न दिया और उसको धर्मजिज्ञासु कह कर अपने हितैषियों की बात टाल देते रहे। एक दिन सायंकाल क समय उसी दुष्ट मुसलमान युवक ने अङ्गड़ाई लेते हुए पण्डित जी के उदर में, जब कि वे महर्षि दयानन्द की जीवनी में उनकी परमपद प्राप्ति के वर्णन का अध्याय अभी २ लिख कर उठे थे, कटारी घोंस दी, जिससे उनकी आंतों में आठ मारक घाव लगे और उनसे आधी रात तक बराबर रुधिर का प्रवाह बहता रहा। डाक्टर पेरी, सिविल सर्जन (लाहौर) के घावों को, दो घण्टे तक सींते रहने पर भी पण्डित जी न बच सके और उन्होंने फाल्गुन सुदि ३ संवत् १९५३ वि० तदनुसार ६ मार्च १८९७ ई० को रात्रि के २ बजे अपने नश्वर शरीर को वैदिक धर्म पर बलिदान कर दिया। प्राण त्यागने से पूर्व तक उनकी चेतना में तनिक भी अन्तर नहीं आया। वे बराबर ' ओ३म् विश्वानि देव सवितः....." इत्यादि और गुरु मन्त्र का पाठ करते रहे। उस समय उनको न घर वालों की चिन्ता थी, न घातक पर अप्रसन्नता, और न मौत का डर था। यदि चिन्ता थी तो आर्यसमाज की और यदि ध्यान था तो उस

महायश की ओर, जौ ऋषि दयानन्द रच गए थे। धर्मवीर ने न तो माता और धर्म पत्नी की चिन्ता की क्योंकि उनको विश्वास था कि परमेश्वर उनका सहायक है और न ही घातक का पता लगाने को कहा क्योंकि जिस वैदिक धर्म के वे सच्चे सेवक थे, वह बदला लेने की शिक्षा नहीं देता। उन्होंने अन्तिम आदेश अपने सहधर्मियों को यह दिया कि—

"आर्य समाज से लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिए"

इस प्रकार वैदिक धर्म पर बलिदान हो कर पण्डित लेखराम जी जहां अपना नाम शहीदों की पंक्ति में सदा के लिए अमर बना गए वहां वे आर्यसमाज रूपी छोटे पौधे को अपने रुधिर का खाद दे कर वृक्ष में परिणत होने के लिए हरी-भरी और लहलहाती हुई अवस्था में छोड़ गए। धर्मवीर पण्डित लेखराम के जीवन की अन्तिम जवनिका यदि इस प्रकार न गिरी होती, तो उनकी अर्थी के साथ ३०,००० के स्थान में ३,००० जनता भी न जाती। उस अवस्था में आर्यसमाज की परिमित परिधि के बाहर उनको कोई भी न जानता, किन्तु महानुभाव भावुक हृदयों को पाञ्चभौतिक शरीर की अपेक्षा यशःशरीर अधिक प्रिय होता है और अपनी सब से अधिक प्रियतम वस्तु धर्म के लिए वे सब कुछ न्यौछावर करने के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं तथा धर्मवीर पण्डित लेखराम इसी के उत्कृष्ट उदाहरण थे। पण्डित लेखराम जी के गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन यदि एक वाक्य में करना हो तो वे अत्यन्त त्यागी, सरल स्वभाव, प्रतिज्ञा पालन के पक्के, तेजस्वी, मन्युप्रवण, आर्यसिद्धान्त के अटल विश्वासी, अकुतोभय, वाक्पटु, सुलेखक और आदर्श धर्मप्रचारक थे। उनके रक्तबिन्दु पृथिवी पर व्यर्थ नहीं गिरे। उन्होंने सोमनाथ, वज़ीरचन्द, मथुरादास, तुलसीराम, सन्तराम, योगेन्द्रपाल, जगतसिंह आदि अनेक धर्माग्नि से प्रज्वलित हृदय वाले भावुक धर्मोपदेशक उत्पन्न किए थे और आशा है कि वे आगे भी ऐसे ही अदम्य उत्साह से परिपूर्ण प्रचारकों को जन्म देते रहेंगे। *

पद्धति

वीर-तृतीया पर्व की पद्धति भी अन्य वीर पर्वों के गृह्य और सामाजिक कृत्यों के अनुसार ही है। इस अवसर पर धर्मवीर की गुणावली के उत्साह-वर्धक (जोशीले), वीर-छन्दोमय (आल्हा) के गायन और धर्म पर बलिदान हुए अन्य धर्मवीरों के गुणानुवाद के अनन्तर लेखराम मेमोरियल फ़न्ड की पूर्ति के लिए दान-याचना (अपील) होनी चाहिए और प्रत्येक आर्य का उसमें यथाशक्ति दान देना कर्त्तव्य है।

धर्मवीर पंडित लेखराम जी का धर्म पर बलिदान

मिलिन्दपाद छन्द

(धर्मवीर की प्रार्थना)

एक अविनाशी अजन्मा विश्वधर धाता तुही।
लोक-नायक न्यायकार्रा तू पिता माता तुही॥
धर्मरक्षक तापहारी भक्त-जन-त्राता तुही।
सर्व मङ्गलमूल शङ्कर सर्व-सुख-दाता तुही॥
यों सदा सद्भाव से शिर नाय पण्डित लेखराम।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम॥ १॥

---

* इस निबन्ध में वर्णित धर्मवीर पण्डित लेखराम जी की जीवन घटनाओं का संग्रह महात्मा मुन्शीराम जिज्ञासु (वर्तमान स्वामी श्रद्धानन्दजी) कृत 'आर्यपथिक लेखराम" नामक ग्रन्थ रत्न से किया गया है। यह सुन्दर ग्रन्थ धर्मवीर की प्रामाणिक जीवनी है, जो उनके सहयोगी प्रशंसित महात्मा जी ने बड़ी गवेषणा और परिश्रम से लिखी है और प्रत्येक आर्यसामाजिक पुरुष के पढ़ने योग्य है। लघु लेखक इससे आस सहायता के लिए उसके श्रद्धेय ग्रन्थकर्ता का बहुत आभारी है।

(पण्डित जी का धार्मिक वीरों की प्रणाली से उत्तेजित होना)

धर्मधारी वीर वैरी से कभी डरते नहीं।
पुण्य के प्रतिकूल पूजा पाप की करते नहीं॥
तामसी मत मान, मन में मोह को भरते नहीं।
ज़ालिमों में जन्म लेने के लिए मरते नहीं॥
बस इसी उद्देश को उर लाय पण्डित लेखराम।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम॥ २॥

(पण्डित जी का महामन्तव्य)

आलसी के ठौर ठाली, साहसी सोते नहीं।
मूढ़ मण्डल में विवेकी, काल को खोते नहीं॥
भोगियों की भांति, योगी रात दिन रोते नहीं।
कायरों के पक्षपाती सूरमा होते नहीं॥
इस महामन्तव्य का फल पाय पण्डित लेखराम।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम॥ ३॥

(पण्डित जी की योग्यता और कर्त्तव्यपालन)

बन गये विद्या-विशारद धर्म का धन जोड़ कर।
योग का आनन्द लूटा योगियों की होड़ कर॥
मेल का मेला लगाया फूट का शिर फोड़ कर।
खुल पड़े परतन्त्रता के बन्धनों को तोड़ कर॥
श्री दयानन्दर्षि के गहि पाँय पण्डित लेखराम।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम॥ ४॥

(धर्मवीर का धर्मोपदेश)

वेद का उपदेश देते देश में फिरने लगे।
दम्भ सारे दुर्दशा के घेर में घिरने लगे॥
लेख मन माने मतों पर वज्र से गिरने लगे।
झक्कड़ों के झुंड चारों ओर को चिरने लगे॥

जाल ग्रन्थों में लगा लिपि लाय पंडित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ ५ ॥

(वेद-विरोधी ग्रन्थों का खण्डन)

पोल खुलते ही पुराणों का महातम हट गया ।
बुद्ध की विधि बन्ध गई, मद जैन मत का घट गया ॥
जी जला इञ्जील का, बिल बायबिल का फट गया ।
दम घुटा तौरैत का, छल बल ज़बूरी कट गया ॥
पड़ गये मुसहफ़ के पीछे, धाय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ ६ ॥

(वेद और कुरआन का विरोध)

सामने कुरआन के ले वेद चारों अड़ गये ।
मार मन्त्रों की पड़ी पर आयतों के झड़ गये ॥
डूब कर बहरे दलाइल में गपोड़े सड़ गये ।
कुल हदीसों के हवाले भी भमर में पड़ गये ॥
इस तरह इसलाम का घर ढाय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ ७ ॥

(पण्डित जी के साथ मुसलमानों का विश्वासघात)

चिढ़ गये वैदिक बटोही से मियाँ सब हार कर ।
चल पड़े अपनी पुरानी चाल पै तकरार कर ॥
एक पाजी आ मिला मत वेद का स्वीकार कर ।
अन्त को भागा कलेजे में कटारी मार कर ॥
नीच को अपनाय धोखा खाय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ ८ ॥

(पण्डित जी का वैदिक-बलिदान)

केशरी पर घात गीदड़ की अचानक चल गई ।
कामना विश्वासघाती सर्व खल की फल गई ॥

नाम को इसलाम के शिर से बला सी टल गई ।
आग इस ज्वालामुखी छल की जगत् में जल गई ॥
बन गये बलिदान दल के राय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ ९ ॥

(पण्डित जी की परलोकयात्रा)

क्या चिकित्सा की चली उर शूल से गढ़ते रहे ।
प्राणतन को त्यागने की चाल पै चढ़ते रहे ॥
प्रेमपूरित शब्द मुख से अन्त लों कढ़ते रहे ।
धर्म को धर ध्यान में गुरु-मन्त्र को पढ़ते रहे ॥
चल बसे परलोक में तज काय पंडित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पंडित लेखराम ॥ १० ॥

(पण्डित जी की अन्तिम शिक्षा)

धर्म के मग में अधर्मी से कभी डरना नहीं ।
चेतकर चलना कुमारग में क़दम धरना नहीं ॥
शुद्ध भावों में भयानक भावना भरना नहीं ।
बोध-वर्द्धक लिखने में कमी करना नहीं ॥
दे मरे हमको मुनासिब राय पंडित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पंडित लेखराम ॥ ११ ॥

(पण्डित जी के शोक में माता आदि का रोना)

हो निपूती मा प्रतापी पुत्र को रोने लगी ।
धर्मपत्नी प्राण प्राणाधार पर खोने लगी ॥
शोक से सब साथियों की दुर्दशा होने लगी ।
मोह-माया वेदना के बीज यों बोने लगी ॥
हाय बेटा हाय स्वामी हाय पंडित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पंडित लेखराम ॥ १२ ॥

(पुरवासियों का रोना)

आ पुकारे लोग प्यारे कल्प भर को मर चले ।
दीन भारतवर्ष को बलहीन व्याकुल कर चले ॥
धर्म की रति को धरोहर सी धरा पर धर चले ।
ब्रह्मकुल के शुद्ध सांचे में चकाचक भर चले ॥
कर्म-कञ्चन तीव्र-तप से ताय पंडित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पंडित लेखराम ॥ १३ ॥

(पण्डित जी की महाशय्या)

वीर की अर्थी उठाकर दीन दुख पाते चले ।
जी जले आंसू बहाते ठोकरें खाते चले ॥
फूल बरसाते गुणी पद ज्ञान के गाते चले ।
सैकड़ों लाहौरवासी शोक उपजाते चले ॥
हाय मरघट में विराजे आय पंडित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पंडित लेखराम ॥ १४ ॥

(चित्ता लगाना)

ब्रह्मवादी वीर चरचा ज्ञान की करने लगे ।
साधु साधन शील समिधा कुण्ड में भरने लगे ॥
धीर के शव को चिता में धीर धर, धरने लगे ।
काल की करतूति से सब सूरमा डरने लगे ॥
यों न सोये थे छपरखट छाय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ १५ ॥

(नरमेध और महादाह)

आग दी जलने लगा तन चूर चूना हो गया ।
हाय रे नरमेध होली का नमूना हो गया ॥
आ मिलि मुनि की दिवाली दाह दूना हो गया ।
वीरता का राजमन्दिर आज सूना हो गया ॥

हा मिले शङ्कर पिता से जाय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ १६ ॥

(पण्डितजी का नाम और यश)

शुद्ध ज्ञानागार में गुरुभक्ति भरने के लिए ।
धर्म-करि को कर्म-कानन में विचरने के लिए ॥
वेद का उपदेश चारों ओर करने के लिए ।
एक शंकर का निरन्तर ध्यान धरने के लिए ॥
नाम-सुत को दे गये यश-दाय पण्डित लेखराम ।
तर गये जगदीश के गुण गाय पण्डित लेखराम ॥ १७ ॥

(कविशिरोमणि पं० नाथूराम शंकर)

लेखराम वीरतृतीया

(ले०—वैदिक धर्मविशारद, काव्यमनीषी श्री सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार)

(गीतिकात्मक मिलिन्दपाद)

१—वेद - विद्या के विनोदी, बुद्धि - बुद्ध - विहार थे ।
मातृभू के मानमोदी, धैर्य—धर्माधार थे ॥
तर्क के तिग्मांशु, तारन, सत्य-सागर-सार थे ।
पूज्य - प्रभु - परमेश, पावन, प्रेम पारावार थे ॥
यवन घन रावण निशाचर हेतु "सूर्य" समान थे ।
धर्मवीर * महान थे शर, लेखराम समान थे ॥ १ ॥

२—ले दयानन्दर्षि गुरु की, ज्ञान - पूँजी पाथ में ।
कल्पतरुवत् धर्म - तरु की, शाख-श्रद्धा साथ में ॥

* श्लेषालङ्कार से दो अर्थ हैं (१) राम के समान लेख ही जिनके बाण थे (२) पण्डित लेखराम धर्मवीर थे लेकिन बाण न रखते थे । समान=सदृश तथा स-मान = मान सहित ।

तर्क की तलवार लेकर, 'ओम्' झंडा हाथ में ।
घोषणा की घोर घर - घर, नित्यनिवृति नाथ में ॥
वेद धर्म प्रचार व्रतकर, पालते, पण प्राण थे ।
धर्मवीर महान थे शर, लेखराम समान थे ॥ २ ॥
३—म्लेच्छ मत को मारना ही, मुख्य मुनि का काम था ।
शास्त्र-शस्त्र सुधारना ही, श्रेय था, संग्राम था ॥
पाप-पुञ्ज पछारना ही, "पथिक" का, प्रोग्राम था ।
धर्म धीरज धारना ही, राम को अभिराम था ॥
"आवें, अड़ें, अगुआ इधर" यह आर्य के आह्वान थे ।
धर्मवीर महान थे शर, लेखराम समान थे ॥ ३ ॥
४—शास्त्रार्थ के संग्राम में, रिपु हार कर रोने लगे ।
अभियोग आदि अकाम में, खंडित "खुदी" खोने लगे ॥
'बस क़त्ल काफ़िर को करो' ।नस, निन्द्यहिय होने लगे ।
'अज़मते मज़हब भगे', विष - वल्लरी बोने लगे ॥
शुद्धि-हित आ दुष्ट छल कर, बस गया, वह त्राण थे ।
धर्मवीर महान थे शर, लेखराम समान थे ॥ ४ ॥
५—विश्वास से बन कर सगा, वैरी वहीं रहने लगा ।
पर पाप-पंकधि में पगा, दुशमन बना देकर दग़ा ॥
ख़ूंख्वार खञ्जर मार डट कर, भीरुता भय से भगा ।
बोधवेलि बिगार कर, हर ज्योति-जीवन जगमगा ॥
मरते समय तक धैर्य धर, करते रहे श्रुति गान थे ।
धर्मवीर महान थे शर, लेखराम समान थे ॥ ५ ॥
६—धर्मवीर ! सदा तुम्हारा धर्म पर ही ध्यान था ।
वेदहित सर्वस्व वारा, वेद पर बलिदान था ॥
आर्यकुल आदर्श प्यारा, मोद था, अभिमान था ।
"सत्य का सब लें सहारा", लक्ष्य मुख्य महान था ॥

"वेद पर बलिदान का कर लें" विशेष विधान थे।
धर्मवीर महान थे शूर, लेखराम समान थे ॥ ६ ॥

७—आर्य मिल सब आपके गुण, ज्ञान गौरव गायंगे।
ऋषि-मिशन पूरा करें पुनि, आपके पद पायंगे ॥
"वीर के बलिदान का दिन, मोद मान मनायँगे।
आज यदि व्रत लें मनस्विन्! "विश्व आर्य बनायंगे" ॥
धैर्यधर थे वीरवर नर, आप आर्य महान थे ॥
धर्मवीर महान थे शूर, लेखराम समान थे ॥ ७ ॥

"सूर्य"

वासन्ती (आषाढ़ी) नवसस्येष्टि

(होलकोत्सव)

फाल्गुन सुदि पूर्णिमा

दुर्मिल सवैया

ऋतुराज वसन्त विराज रहा, मनभावन है छवि छाज रहा।
वन-बागन में कुसुमावलि की, मुलदा सुषमा वह साज रहा॥
यव गेहूँ चना सरसों अलसी, सब ही पक आज अनाज रहा।
यह देख मनोहर दृश्य सर्ग, अति हर्षित होय समाज रहा॥
उपलक्ष्य इसे करके जग में, शुभ होलक-उत्सव हैं करते।
अधपक्व-यवाहुति दे कर के, सब व्योम सुगन्ध से हैं भरते॥
सब सज्जन-वृन्द अतः जग में, नव-सस्य-सुयज्ञ इसे कहते।
कुल-वैर-विसार सनेह-सने, हुलसे सब आपस में मिलते॥
वर पान इलायचि भेंट करें, निज मित्र-समादर हैं करते।
हृदयंगम गायन-वादन से, मुद से सब हैं मन को भरते॥

(पं० सिद्धगोपाल कविरत्न काव्यतीर्थ कृत)

ऋतुराज वसन्त का आविर्भाव हो चुका है, लगभग सवा मास व्य-तीत हुआ है, जब उस की अगवानी का उत्सव वसन्त पञ्चमी पर्व मनाया गया था। तब से अब प्रकृति की छटा में बहुत परिवर्तन आ गया है। उसका रूप दिनों दिन रम्य से रम्यतर होता जा रहा है। आज वसन्त-श्री अपने यौवन पर है। वनोपवन और नगर-ग्राम में सर्वत्र उसका नयनाभिराम

वरविकास मन को मोद से भर रहा है, चराचर जगत् ने इसी आनन्द से प्रफुल्लित होकर नवीन बाना बदल लिया है। वनोपवनों में नवविकसित कुसुमों की बहार है, तो खेतों में परिपक्व यव और गोधूम के सस्यों की सुनहरी सरिता तरङ्गित हो रही है। पशुओं ने नवीन रोमावली के चित्र-विचित्र अभिनव परिधान धारण किए हैं। पक्षिसमूह ने भी पुराने पर झाड़ कर नूतन पक्षावली का परिच्छद पहना है। उनकी चारु चहचहाहट में सुन्दर सरसता का संचार हो गया है। कलकण्ठा कोकिला की कूक, मयूर की केका, तरुण तित्तिरि (तीतर) का तारस्वर तथा कलकूजन, कपोत का कलरव वायुमण्डल को मधुरिमा से परिपूर्ण कर रहा है। मलयाद्रि का धीर सुगन्ध समीर अठखेलियां करता हुआ चल रहा है। ऐसे उदार और मनोहर सुसमय में आषाढ़ी सस्य के शुभागमन की शुभाशा भारत की प्रधान जनता और सब के अन्नदाता कृषक-समूह के मन में मोद भर देती है।

आषाढ़ी शस्य (साढ़ी) की फ़सल भारत की सब फ़सलों में सर्वश्रेष्ठ है। वह सब फ़सलों की सिरमौर गिनी जाती है। भारत में अकाल पड़ने पर साढ़ी बहुत ही कम मारी जाती है, वह केवल भूखे भारत का ही पेट नहीं भरती, प्रत्युत पूर्व समय कभी धनधान्य समृद्ध योरप आदि विदेशों को भी करोड़ों मन अन्न पहुंचाती थी। ऐसे जीवनाधार सर्वपालक सस्य की अवाई पर कृषकों का मन, जिन्होंने आषाढ़ से लेकर वर्षा भर कड़ी जुताई करके अपने खेतों की तैयारी की थी, आनन्द से क्यों न बल्लियों उछलने लगे। इस अवसर पर उनका आनन्दोत्सव और रङ्गरलियाँ मनाना स्वाभाविक ही है। यह भारतवर्ष की ही विशेषता नहीं है, प्रत्युत अन्य देशों में भी नवशस्य के प्रवेश पर पर्व और उत्सव मनाये जाते हैं। ऋक्षराज रूस के हिमाच्छादित देश में फ़सल कटने पर कृषक अपने इष्ट मित्रों को मद्य और पक्वान्न से परितृप्त करके उत्सव मनाते हैं। भुवनभास्कर की भूमि जापान में भी, जब धानों की फ़सल कटती है,

तब धान की सुरा और चावलों की रोटियों के सहभोज होते हैं और गानवाद्यपूर्वक पर्व मनाया जाता है। योरुप में सेन्ट वेलन्टाइन (St Valentine's day) का दिन और इङ्गलैण्ड में मे पोल (May Pole) के उत्सव भी इसी प्रकार के होते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के उत्सव ग्रामीण कृषक जनता में ही जागृत हैं। उनकी सीधी सादी सरल जीवन-प्रणाली में ही उनका आदर होता है। विविध प्रकार के उद्योग धन्धों में फंसे हुए, जीवन की घुड़दौड़ में रात दिन व्यस्त, स्वार्थान्ध नागरिकों में इस प्रकार के उत्सवों के लिए उत्साह ही उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु भारतीय उत्सव केवल आमोद-प्रमोद का ही साधन नहीं है। धर्मपरायण भारतीयों की प्रत्येक बात में धार्मिकता और वैज्ञानिकता की पुट लगी हुई है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु के चातुर्मास्य (चौमासे) के पश्चात् विकृत गृहों के परिमार्जन (लिपाई पुताई) के लिए तथा शारद नव ऋतु के प्रवेश पर, नवाविभूत रोगों के प्रतीकारार्थ होम-यज्ञ द्वारा वायुमंडल की संशुद्धि, नवप्रविष्ट शीत काल के निवारक परिधानों के परिवर्तन और नवप्राप्त श्रावणी सस्य के नवीन अन्न, धानों की लाजाओं, के होमने के लिये शारदीय नवसस्येष्टि (दीपावली) का पर्व नियत है। उसी प्रकार शीतकालीन वर्षा (मुहासा) के अनन्तर -मुहासा भी एक प्रकार का चौमासा ही समझा जाता है, आवासों की परिष्कृति के लिये तथा वसन्त की नई ऋतु बदलने पर अस्वास्थ्य के प्रतिरोधार्थ हवन से वातावरण के संस्कारार्थ; नवागत ग्रीष्मोचित हलके फुलके श्वेत वस्त्रों के बदलने और नई आई हुई आषाढ़ी फ़सल के यवों (जौओं) से देवयज्ञ करने के लिए आषाढ़ी नवसस्येष्टि अभिप्रेत है। [इसके प्रमाण श्रावणी नवान्नेष्टि (दीपावली) के प्रकरण में देखिए।]

संस्कृत में अग्नि में भूने हुए अर्द्धपक्व अन्न को "होलक" कहते हैं। इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं:—

"तृणाग्निभ्रष्टार्द्धपक्वशमीधान्यं होलकः। होला इति हिन्दी भाषा।"

[शब्दकल्पद्रुमकोशः]

अर्द्धपक्वशमीधान्यैस्तृणभ्रष्टैश्च होलकः।
होलकोऽल्पानिलो, मेदः कफदोषश्रमापहः॥
भवेद् यो होलको यस्य स तत्तद्‌गुणो भवेत्।

(भाव प्रकाश)

अर्थ—तिनकों की अग्नि में भूने हुए अधपके शमीधान्य (फली वाले अन्न) को 'होलक' (होला) कहते हैं। होला स्वल्पवात है और मेद (चर्बी) कफ़ और श्रम (थकान) के दोषों को शमन करता है। जिस २ अन्न का होला होता है, उसमें उसी उसी अन्न का गुण होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि में तृणाग्नि में भूने आषाढ़ी के प्रत्येक अन्न के लिए 'होलक' शब्द प्रयुक्त होता था, किन्तु पीछे से वह शमीधान्यों (फलीयुक्त) के होलों के लिए ही रूढ़ हो गया था। हिन्दी का प्रचलित "होला" शब्द इसी का अपभ्रंश है। आषाढ़ी नवान्नेष्टि में नवागत अधपके यवों के होमने के कारण उसको "होलकोत्सव" कहते थे। उसमें होलक या होले हुतशेषरूप से भक्षण किए जाते थे और उनके सत्तू (सक्तु) का प्रयोग भी इसी पर्व में प्रारम्भ होता था। सत्तू ग्रीष्म का विशेष आहार है और उसके पित्तादि दोषों को शमन करता है। जैसा कि कई अन्य पर्वों के वर्णन में बतलाया जा चुका है, भारतीयों के विशेष २ पर्व विशेष-विशेष आहारों के प्रयोगों के प्रारम्भ के लिए निर्दिष्ट है। उसी प्रकार यह होलकोत्सव होलों और उसके बने हुए सत्तुओं के उपयोग के लिए उद्दिष्ट है।

वैदिक धर्मावलम्बियों के यहाँ प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि नवीन वस्तुओं को देवों को समर्पण किए विना अपने उपयोग में नहीं लाया जाता है। जिस प्रकार मानव देवों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार भौतिक देवों में अग्नि सर्वप्रधान है। वह विद्युत् रूप से

ब्रह्माण्ड में व्यापक है और भूतल पर साधारण अनल, जल में बड़वानल, तेज में प्रभानल, वायु में प्राणापानानल और सर्व प्राणियों में वैश्वानर के रूप में वास करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्णजी कहते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

अर्थ—मैं प्राणियों में वैश्वानर रूप होकर देह के आश्रय रहता हूँ और प्राणापान वायु के साथ मिल कर चार प्रकार के (भक्ष्य, भोज्य लेह्य और चोष्य) अन्न को पकाता हूँ।

देवयज्ञ का प्रधान साधन भौतिक अग्नि ही है, क्योंकि वह सब देवों का दूत है। वेद में उसको अनेक बार 'देवदूत' कहा गया है। वही सब देवों को होमे हुए द्रव्य पहुंचाता है इसलिए नवागत अन्न सर्वप्रथम अग्नि के ही अर्पण किए जाते हैं और तदनन्तर मानवदेव ब्राह्मणों की भेंट करके अपने उपयोग में लाए जाते हैं। श्रुति कहती है—"केवलाघो भवति केवलादी"। अर्थ—अकेला खाने वाला केवल पाप खाने वाला है। मनु. महाराज इसी का समर्थन इस प्रकार करते हैं—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥
मनु० अध्याय ३। श्लो० ११८॥

अर्थ—जो पुरुष केवल अपने लिए भोजन पकाता है, वह पाप भक्षण करता है। यज्ञशेष वा, हुतशेष ही सज्जनों का (भोक्तव्य) अन्न विधान किया गया है।

इसलिए अब तक भी जनसाधारण में यह प्रथा प्रचलित है कि जब तक नवीन अन्नों वा फलों को पूजा के प्रयोग में न लाया जाय, तब तक उनको लोकभाषा में "अछूत" वा "छूते" कहते हैं।

तदनुसार ही आषाढ़ी की नवीन फसल के आने पर नए यवों को

होमने के लिए इस अवसर पर प्राचीन काल में नवसस्येष्टि, होलकेष्टि वा होलकोत्सव होता था ।

जहाँ प्रत्येक गृह में पृथक् २ नवसस्येष्टि की जाती थी, वहां प्रत्येक ग्राम में सामूहिक रूप से सम्मिलित नवसस्येष्टि भी होनी थी और उसमें सब लोग अपने २ घरों से यवादि आहवनीय पदार्थ लाकर चढ़ाते थे। वर्तमान समय में काष्ट और कण्डों (उपलों) के ढेरों के रूप में होली जलाने की प्रथा प्राचीन सामूहिक नवसस्येष्टियों का विकृत रूप है। उस में आहवनीय सामग्री का हवन तो कुटिल काल की गति से लुप्त हो गया है और केवल काष्ठ तथा अमेध्य द्रव्यों का जलाना और उसमें यवों की बालों का भूनना रूढ़ि वा लकीर के रूप में रह गया है ।

इस आषाढ़ी नवान्नेष्टि का उपर्युक्त देवयज्ञ द्वारा देवपूजन, विद्वत्-समादर, वायु-संशोधन, गृह-परिमार्जन तथा नवीन वस्त्र परिवर्तन धार्मिक और वैज्ञानिक स्वरूप है।

इस अवसर पर गान-वाद्य द्वारा आमोद और हर्षोल्लास तथा इष्टमित्रों का सप्रेम सम्मेलन उसके आनुषङ्गिक उपयोगी लौकिक अङ्ग हैं। जो समय हमारे लिए वर्ष भर तक अन्न प्रदान करते रहने की व्यवस्था करता है उस को मंगलमूल वा सौभाग्यसूचक समझ कर उस पर परमेश्वर के गुणानुवादपूर्वक आनन्दोत्सव मनाना स्वाभाविक ही है। परस्पर प्रेम परिवर्धन का भी यह बड़ा उपयुक्त अवसर है ।

इस पर्व पर सब लोग ऊंच-नीच, छुटाई-बड़ाई का विचार छोड़ कर स्वच्छ हृदय से आपस में मिलते हैं। यदि किसी कारणवश वर्ष में वैर-विरोध ने मनों को अपना आवास बना लिया है, तो उनको अग्निदेव की साक्षी में भस्मसात् कर दिया जाता है। अतः होली प्रेमप्रसार का पर्व है। यह दो फटे हृदयों को मिलाती है, एकता का पाठ पढ़ाती है, यह वर्ष भर में प्रेम में तन्मय हो जाने की सब से उत्तम साधक है। आज घर घर मेल-मिलाप है, घर घर वर्ष भर के वैरी एक दूसरे को गले लगा

कर फिर भाई भाई बन जाते हैं। आज बाल वृद्ध वनिताओं की उछाह भरी उमंगें कलहकालुष्य और वैमनस्य के विकारों का विलोप कर देती हैं। होली के शुभ अवसर पर भारत में हर्ष की कल्लोल-मालाएँ उठती हैं। यह पर्व प्रत्येक हिन्दू के घर भारतवर्ष में इस सिरे से उस सिरे तक समान रूप से मनाया जाता है। होली का पवित्र पर्व वस्तुतः आनन्द और उल्लास का महोत्सव था, किन्तु काल की कराल गति से आजकल उसमें भी कदाचार और अभद्र दृश्य प्रवेश पा गए हैं। आजकल जिस प्रकार से हमारे हिन्दू भाई होली मनाते हैं, उनको देखकर क्या कोई भी बुद्धिमान्, विद्वान्, धार्मिक पुरुष यह मान सकता है कि यह होली जिस को देख कर शिक्षित और सज्जन विदेशी लोग हमें नीमवहशी (अर्द्ध-बर्बर) का ख़िताब देते हैं, हमारे उन्हीं पूर्व पुरुषों की चलाई हुई हो सकती है कि जिन की विद्या और बुद्धि को देखकर सारा संसार विस्मित है और जिनके रचित ग्रन्थों और शिल्प-निर्माणों को देख कर क्या स्वदेशी और क्या विदेशी सभी सहस्र मुख से उनकी उच्च सभ्यता की प्रशंसा करते हैं। क्या आज कल होली में गाली-गलौच का बकवास और अश्लील शब्दों का उच्चारण हमारे उन ऋषियों और ब्राह्मणों का चलाया हो सकता है, जिनके सिद्धान्त में मन में भी ऐसे अश्लील और जघन्य विचारों का सोचना तक पाप समझा जाता है ? क्या आज कल की होली में बड़े भाइयों की स्त्रियों वा भाबियों से होली खेलना वा दूसरे शब्दों में कुचेष्टाएँ करना उन आर्य पुरुषों का चलाया हो सकता है, जो भाबियों को माता के समान समझते थे और उन को प्रणाम करते हुए भी उनके चरणों को छोड़कर उनके अन्य अंगों पर दृष्टिपात तक करना पाप समझते थे। देखिए जिस समय श्रीसीता को रावण चुरा ले गया था, तब से विलाप करती हुई अपने आभूषण और चीर मार्ग में फेंकती गई थी और श्री राम और लक्ष्मणजी ने श्रीसीताजी को ढूँढते हुए, जब उनको मार्ग में पड़े हुए पीछे आन कर उठाया था, तो शोकसंतप्त,

रघुकुलनायक, मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी अपने प्रिय भ्राता श्री लक्ष्मणजी से पूछते हैं कि भ्रातः, देखो तो ये चीर और आभूषण तुम्हारी भाभी के ही हैं ? श्रीलक्ष्मण यती के उत्तर को आदि कवि श्री बाल्मीकि ऋषि यों वर्णन करते हैं:—

कंकणं नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले ।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

आज कल भाभियों से होली खेलने के रसिया क्या उन्हीं मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और लक्ष्मण यती के कुल से होने का अभिमान कर सकते हैं कि जिनका कथन ऊपर उद्धृत किया गया है ? फिर आजकल होली में जो आर्यसन्तान मद्य, भांग और दूधिया पीकर उन्मत्त होते हैं (दूध जैसे अमृत समान पदार्थ को भांग जैसे मादक और बुद्धिनाशक द्रव्य में मिला कर अनर्थ करते हैं), बुद्धि जैसे उत्तम और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के देने वाले पदार्थ का नाश करके ईश्वर के अपराधी बनते हैं, उन से बढ़ कर और कौन पाप का भागी बन सकता है ? बुद्धि का बहुमूल्य और श्रेष्ठ पदार्थ इस संसार में कोई दूसरा नहीं है । यह ईश्वर की देनों में से सब से उत्तम देन है । बिना बुद्धि के लौकिक वा पारमार्थिक कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए बुद्धि की शुद्धि के लिए द्विजाति मात्र नित्य गायत्री में ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि "धियो यो नः प्रचोदयात्" अर्थात् वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे । उस बुद्धि को होली में नशा पीकर भ्रष्ट और मलीन करने वाले क्या कभी उन ऋषि मुनियों के मानने वाले और धर्मानुयायी हो सकते हैं, जिनके अग्रगन्ता महर्षि मनु ने अपने धर्मशास्त्र में मद्यपों के लिए यह प्रायश्चित्त बतलाया है कि—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः ॥

अर्थ—मद्य पीने वाला पापी अग्नि से तपाई हुई मद्य पीकर स्वशरीर को नष्ट कर देवे ।

जिस मद्यपान के लिए कठिन प्रायश्चित्त मनु भगवान् ने रक्खा है और उसकी महापातकों में गणना की है, आप समझ सकते हैं कि उससे बढ़ कर कौन महापाप हो सकता है। कोई भङ्गड़ वा भङ्ग पीने वाला शायद यह शंका करे कि मनु महाराज ने तो स्वनिषेधवाक्य में केवल सुरा = मद्य शब्द का प्रयोग किया है, इसमें भङ्ग आदि का निषेध कहाँ से आ गया ? ऐसी शङ्का करने वाले महाशयों को सुश्रुताचार्य का यह वाक्य भी सुन रखना चाहिए—"बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते" अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि का नाश करे उसको मदकारी वा 'मद्य' कहते हैं। आप स्वयं सोच सकते हैं कि भांग आदि जितने भी नशे हैं उनमें क्या कोई बुद्धि को बढ़ाता भी है ? यदि आप विचारेंगे और योरुप आदि विदेश के डाक्टरों और स्वदेशीय वैद्यों तथा हकीमों की इस विषय में लिखित सम्मतियाँ देखेंगे तो आप को विदित होगा कि सब नशे न केवल बुद्धि का ह्रास ही करते हैं, किन्तु शरीर आदि का भी नाश कर डालते हैं।

कैसे खेद और शोक की बात है कि जिन लोगों का मद्य और मांस जातीय अहार समझा जाता था, वे तो उसको छोड़ते जाते हैं और ऋषि-सन्तान उसका ग्रहण करते जाते हैं और फिर होली जैसे पवित्र पर्वों और उत्सवों को उनके प्रयोग से कलंकित और दूषित कर रहे हैं। क्या हमारी होली की राक्षसीय लीलाओं को देख कर कोई भी विश्वास कर सकता है कि हम उन्हीं ऋषियों की सन्तान हैं, जिन की विद्वत्ता, शूरवीरता, धर्मपरायणता का लोहा संसार मान रहा है। आज कल होली के अवसर पर ग्रामों में जो नवाब बना कर निकाला जाता है क्या इस से बढ़ कर भी कोई अमांगल्य और अभद्र दृश्य हो सकता है ? हमारे धर्मपरायण राम, कृष्ण, भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर आदि पूर्वपुरुषों की आत्माएँ हमारे इन दुश्चरित्रों को देख कर क्या कहती होंगी ?

यह तो कुपढ़ों और निपट गंवारों अथवा अर्द्धशिक्षितों की लीलाएँ

हुईं। शिक्षित और सभ्यम्मन्य भी हिन्दुत्व और हिन्दू त्यौहारों की रक्षा की दुहाई देते हुए होली में वे हुल्लड़ मचाते हैं कि जिनको देखकर लज्जा को भी लज्जा आती है। वे अपने इष्टमित्रों साथी-संगियों के वर वस्त्रों को लाल रंग से लतपत करके उनके मुँह पर गुलाल लपेट कर तथा आंखों में अबीर झोंककर उनकी वह दुर्गत बनाते हैं कि उसको देखकर दया आती है। अब यह हुड़दंगापन नवीन सभ्यता के प्रचार से कुछ कम हो चला है, किन्तु दस-बीस वर्ष पूर्व तो हिन्दुओं के तीर्थस्थानों—मथुरा, काशी, हरिद्वार आदि नगरों—में तो किसी भलेमानस पथिक को अपने बहुमूल्य श्वेत वस्त्र लालरङ्ग से अछूते लेकर निकलना असम्भव था।

इस आधुनिक रङ्ग बखेरने और गुलाल उड़ाने की कुप्रथा का मूल प्राचीन काल में यह प्रतीत होता है कि पुराने भारतवासी इस आमोद-प्रमोद के पर्व पर कुसुमसार (इत्र) आदि सुगन्धित द्रव्यों को परस्पर उपहार रूप से व्यवहार में लाते थे। सम्भव है कि सम्मिलित मित्र-मण्डली पर गुलाबपाश वा पिचकारियों द्वारा गुलाबजल छिड़का जाता हो और यतः इस वसन्त ऋतु के अवसर पर सब वसन्ती बाना वा पीताम्बर धारण किये होते थे, इसलिए अनुमान होता है कि केशर घुले हुए गुलाब जल का छिड़काव होता हो। उससे पीतवस्त्रों के बिगड़ने की कुछ आशङ्का न होती होगी। आजकल के विकृत विदेशी लाल रङ्ग का यही मौलिक शुद्ध स्वरूप अनुमान होता है। गुलाल का मूल भी पुष्पों का पराग वा पुष्पों की पत्तियों का चूर्ण होगा, जो पटवासक के रूप में काम में लाया जाता होगा। यही बिगड़ कर आजकल लाल पुड़िया से चावलों के चूर्ण (आटे) के रूप में गुलाल बन गया है और आंखों को अन्धा करने और मानवमुखों को लालबानर मुखाकृति देने के अतिरिक्त उसका कुछ भी उपयोग नहीं है। ये सारी अमर्यादित रङ्गरलियां भारतीयों के उस विलासिता और कामक्रीड़ा के युग में प्रचलित हुई थीं, जब कि लक्ष्मी के लालों को इन्द्रियारामता और विषयवासना की तृप्ति के अतिरिक्त और

कुछ न सूझता था। इस काम-केलि के काल में ही वसन्त और होलिका के पवित्र प्रमोदपूर्ण ऋतूत्सव मदनोत्सव के रूप में परिणत हुए थे, जिनका विस्तृत वर्णन कविकुलगुरु कालिदास के "अभिज्ञानशाकुन्तल" और "मालविकाग्निमित्र" तथा श्रीहर्ष की "रत्नावली" में विद्यमान है। श्री कृष्ण-चरित को कलङ्कित करने वाले ब्रजमण्डल की उच्छृङ्खल होली का सूत्रपात भी इसी कामकौतुकप्रियता के कलुषितकाल में हुआ था, जो भारत के आशावलम्ब सैकड़ों युवा-युवतियों को पापपङ्क में निमग्न करके उनके सर्वनाश की हेतु होती है। होलिकोत्सव की इन्हीं पाशविक-वृत्तियों वा अविद्यादानवी के विलासों के वश वह विद्याशून्य शूद्रों का पर्व कहलाता था वा सम्भव है कि आमोद-प्रमोद की अपेक्षाकृत मन की नीच-वृत्तियों के विकास के कारण ही वह आर्यपर्वावली में चातुर्वर्ण्य में अवरिष्ठ समझे जाने वाले शूद्र का स्थानी शूद्र पर्व माना जाता हो।

प्राचीनकाल में होलिकोत्सव के आनन्दावसर पर शिक्षाप्रद अभिनयों के खेलने की भी रीति प्रचलित थी। भारत में दृश्यकाव्य वा अभिनय-कला का प्रचार स्मरणातीत समय से चला आता है और उसने संस्कृत साहित्य के मध्यकालीन अभ्युदय काल में बहुत उन्नति की थी। यह कला मनोरञ्जन के साथ-साथ शिक्षाप्रदान का अमोघ साधन है, किन्तु भारत के अविद्यान्धकार के प्रसार के साथ २ उस कला की भी अवनति होती गई और वह इस समय केवल पाशविक वृत्तियों की उत्तेजना का साधन रह गई है। आजकल होली के अवसर पर जो भद्दे स्वांग निकाले जाते हैं, वे इन्हीं अभिनयों के विकृत रूप हैं। यदि उनको सुधार कर शुद्धस्वरूप में पुनः प्रचलित किया जाय तो उनसे जनसाधारण के उत्तम आदर्शों में साथ २ सुरुचि और सुभाषा-प्रसार का अच्छा काम लिया जा सकता है। बङ्गप्रदेश में परिमार्जित बङ्गभाषा का प्रचार वहां सुललित पदों में अभिनीत नाटकों और यात्राओं द्वारा ही हुआ था। परम्परागत पुरानी उपादेय प्रथाओं वा संस्थाओं का लोप न करके उनको परिष्कृत रूप में

प्रचलित करने से जनता का प्रचुर उपकार हो सकता है। सर्वसुधारों के प्रतिभू आर्यपुरुषों का ही यह भी कर्त्तव्य है कि वे होलिकोत्सव का उसके आनुषङ्गिक अङ्गों सहित समुचित सुधार करके उसको परिमार्जित और पवित्र रूप से जनता में पुनः प्रचारित करें। प्रत्येक आर्यगृह में इस अवसर पर इस पद्धति के विधानानुसार पौर्णमासेष्टि और नवान्नेष्टि होनी चाहिए और प्रत्येक आर्यपुरुष को वैर-विरोध विसार कर सब आर्यभाइयों से प्रीतिपूर्वक मिलकर प्रेम बढ़ाना चाहिए। इस समय सङ्गीतमण्डलियों द्वारा श्रवणसुखद गीतवाद्य से हर्षोल्लास के प्रकाश और ईशगुणानुवाद से आत्मा के उत्कर्ष का आयोजन होना चाहिए।

पौराणिकों में होलिकोत्सव के विषय में यह कथा प्रचलित है कि इस अवसर पर सत्याचारी दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने अपने परमेशप्रेमी पुत्र प्रह्लाद के सजीव दाह के लिए अपनी मायाविनी भगिनी होलिका द्वारा चिता रचवाई थी। उसने सोचा था कि होलिका अपनी राक्षसी माया (हथकण्डों) से प्रह्लाद को जलवाकर आप चिता में से बचकर सुरक्षित निकल आयगी, किन्तु परमात्मा की असीम भक्तवत्सलता के कारण भक्तशिरोमणि सत्याग्रही प्रह्लाद का तो बाल भी बाँका न हुआ और राक्षसी होलिका ही उस चिता में भस्मसात् हो गई और उसी दिन से होलिका राक्षसी के दाह और भक्त प्रह्लाद के सुरक्षित रहने के उपलक्ष्य में होलिकोत्सव प्रचलित हुआ इस पौराणिक कथा से भी हम सत्य पर दृढ़ता व सत्याग्रह की शिक्षा ले सकते हैं। संकटों का सागर उमड़े, आपत्तियों की आंधी चले, लोक-निन्दा की नदियां बहा दें, चाहे स्तुति के पहाड़ खड़े करें, परन्तु एक सत्यव्रती का कर्तव्य है कि वह अपने निश्चित पथ से कभी विचलित न हो। यदि पिता वा अन्य गुरुजन भी सत्पथ से हटाकर कुमार्ग की ओर ले जांय, तो उनकी बात भी न माननी चाहिए। सत्यवीर प्रह्लाद का अनुकरणीय आदर्श हमारे सामने है। उसने अग्निपरीक्षा में पड़ना स्वीकार किया, मृत्युमुख में प्रवेश पसन्द किया, पर

पिता की अन्यायपूर्ण आज्ञा को न माना। अतएव होली हमको सत्याग्रह के विजय का भी स्मरण दिलाती है। उसके द्वारा जहां जनता में नई उमङ्ग, अपूर्व आशा एवं असीम आल्हाद का आविर्भाव होता है, वहां उससे धार्मिक और राष्ट्रीय आदर्शों की ज्वलन्त जागृति भी होती है। आशा है कि आर्यसामाजिक जनता उससे उचित उपयोग लेने में पश्चात्पद न रहेगी और सोत्साह उसके यथार्थ रूप का पुनः प्रचार करेगी।

पद्धति

अतः होली का पर्व भी दीवाली के समान सुहासे की वृष्टि के पश्चात् गृहों के परिमार्जन तथा संस्कार के लिए भी उद्दिष्ट है, इसलिए स्वसुभीते के अनुसार फाल्गुन सुदि चतुर्दशी के सायङ्काल तक यह सब कृत्य समाप्त हो जाना चाहिये। फाल्गुन णमा के प्रातः सामान्य पद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार नव पीताम्बर वा श्वेताम्बर परिधानपूर्वक सामान्य होम करके नवसस्येष्टि के निम्नलिखित मन्त्रों से स्थालीपाक की २१ विशेष आहुतियां दी जायँ। स्थालीपाक नवागत आषाढ़ी सस्य के गोधूम वा यव चू अटे से बनाया गया मोहनभोग (हलुआ) हो, हवन के अन्य साकल्य में नवागत यव (जौ) विशेषतः मिलाए जांय। यतः देवयज्ञ देवकार्य है और कर्मकाण्ड के सब ग्रन्थों में देवकार्य के पूर्वाह्न में ही करने का विधान है, इसलिए आषाढ़ी नवसस्येष्टि वा होलिकेष्टि भी पूर्वाह्न में करनी चाहिए। पौराणिकों का पूर्णमासी की रात्रि को होली जलाने का कृत्य कर्मकाण्डशास्त्र के विरुद्ध है—

विशेष आहुतियों के मन्त्र यह हैं:—

१ शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेऽभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदो अजीजादिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा ॥ स्वाहा ॥

२ ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वि यन्ति।

तेषां यो अज्यानिमजीजिमावहास्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे ॥ स्वाहा ॥

३ ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितन्नो अस्तु। तेषामृतूनाᳫं शतशारदानां निवात एषामभये स्याम ॥ स्वाहा ॥

४ इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः। तेषां वयᳫं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम ॥स्वाहा॥ (मं० ब्रा० २, १, ९–१२) गोभिलीय गृह्यसूत्र प्रपाठक ३, खंड ७, सूत्र १०–११ ॥

५ ❀ ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः। तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः ॥ स्वाहा ॥

६ ओं यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्। तन्मे सर्वᳫं समृध्यतां जीवतः शरदः शतᳫं ॥स्वाहा॥

७ ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यᳫं श्रैष्ठ्यᳫं श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा। इदमिन्द्राय, इदन्न मम ॥

८ ओं यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताᳫं सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा, इदमिन्द्रपत्न्यै इदन्न मम ॥

९ ओं अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतां अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाᳫं सा मे त्वनपायिनी भूयात स्वाहा, इदं सीतायै, इदन्न मम ॥

१० ओं सीतायै स्वाहा ॥

११ ओं प्रजायै स्वाहा ॥

१२ ओं शमायै स्वाहा ॥

१३ ओं भूत्यै स्वाहा ॥

❀ दीपावली की पद्धति में पाद टिप्पणी देखो।

१४ ओं व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥स्वाहा॥ यजु० अ० १८ मं०१२।

१५ ओं वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ॥ स्वाहा ॥

१६ ओं वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ २ ॥ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥ स्वाहा ॥

१७ ओं वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥ स्वाहा ॥ यजु० अध्या० १८, मं० ३२, ३३, ३४ ॥

१८ सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ स्वाहा ॥

१९ युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह वीजम् । विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्व मा यवन् स्वाहा॥

२० लाङ्गलं पवीरवत्सु शीमं सोम सत्सरु । उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ स्वाहा ॥

२१ इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु । सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ स्वाहा ॥

२२ शुनं सुफाला वितुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान् । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कतमस्मै ॥ स्वाहा ॥

२३ शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ स्वाहा ॥

२४ शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् । यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनमामुपसिञ्चतम ॥ स्वाहा ॥ अथर्व० कां० ३ । १७ । मं० १–७ ॥

२५ सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव । यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ स्वाहा ॥

२६ घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः । सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ स्वाहा ॥

२७ इन्द्राग्निभ्यां स्वाहा ॥

२८ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥

२९ द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ इदं द्यावापृथिवीभ्याम् इदं न मम ।

३० स्विष्टमग्ने अभितत्पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अभिष्यक् । सुगन्न पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरं न आयुः स्वाहा ॥

३१ यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्ट्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामनां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्न मम ॥

पूर्णाहुति के पश्चात् हुतशेष हलुवे को वितरण करके भक्षण किया जाय । अपाराह्न में स्व सुभीते के अनुसार आर्यसमाज मन्दिर आदि में सम्मिलित होकर हर्षोत्सव और प्रीतिसम्मेलन किया जाय । उससे पूर्व आर्य पुरुष आर्य बन्धुओं के घरों पर जा कर उनसे प्रेमसंवर्धनार्थ भेंट करें और उनके मध्य में किसी प्रकार का मनोमालिन्य हो तो उसको भी उदारतापूर्वक परस्पर क्षमा-याचना और क्षमाप्रदान द्वारा दूर कर देवें और वहाँ से मिल मिल कर स्वच्छ और प्रेमपूर्ण हृदय से युक्त होकर समाज-मन्दिर के उत्सव में पधारते रहें । इस हर्षोत्सव में सरल प्रीति-भोज, ताम्बूलवितरण, गुलाबजलसिञ्चन वा कुसुमसार (इत्र) संयोजन का आयोजन होना चाहिए । सुमधुर गीतवाद्य का भी अवश्य प्रबन्ध किया जाय । उसमें उत्तमोत्तम उपदेशप्रद "होली" आदि सुन्दर पद्य गाए जायें रत की संगीत कला की उन्नति एवंविध उत्सवों द्वारा ही हो सकती है । संगीत से ही उत्सवों की अन्वर्थ उत्सवता स्थिर रह सकती है ।

गौरवगन्धा होली

मत बैठे वसन्त निहारो, उठो, होली खेलो उमङ्ग बगारो ॥ टेक ॥

फूला फाग प्रेम रसिकों को, प्रीति पसार पुकारो ।
मित्रो, परता त्याग आग में झगड़े-झाड़ पजारो ॥ १ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

नवल पत्र पाये वृक्षों ने निरखो आँख उघारो ।
यों प्यारी उजड़ी जनता को कर प्रसन्न शृङ्गारो ॥ २ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

पूरा मेल करो आपस में वैर विरोध विसारो ।
भेद भिन्नता पास न झाँके ऐक्य प्रयोग पसारो ॥ ३ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

सत्यागार बना लो मन को मधुर वाक्य उचारो ।
त्याग प्रमाद धर्म के द्वारा, कर्म कलाप सुधारो ॥ ४ ॥
उठो, होली खेलो उमङ्ग बगारो ।

गूदा एक फ़ांक दस भासें, उर्वारुक इव यारों ।
शुद्ध भीतरी ऐक्य भाव पै, असदनेकता वारो ॥ ५ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

देखो-विपदा-वैतरणी को, धीर न हिम्मत हारो ।
बन कैवर्त्त नीति-नैया के, सब को पार उतारो ॥ ६ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

मार सहो निर्दय दुष्टों की, पर न किसी को मारो ।
ऐसे तप से पा सकते हो, जीवन के फल चारों ॥ ७ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

दास, गुप्त, वर्मा, शर्मा, सब, अन्त्यज, डोम, चमारो ।
हिंसा हीन असहयोगी हो, कष्ट-कंटक संहारो ॥ ८ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।

वीर ! कहो अन्याय दम्भ को, न्याय नृसिंह बिदारो ।
दीन-देश प्रल्हाद-भक्त को, सौंप स्वराज्य उबारो ॥ ९ ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।
धर्म, दया-आनन्द लोक में, निशि-वासर विस्तारो ।
आर्य-जाति को पारतन्त्र्य की अवनति से उद्धारो ॥ १० ॥
उठो, होली खेलो, उमङ्ग बगारो ।
भाई ! जीवन को भारत के, भाल-स्वतिलक पै वारो ।
'शंकर' श्री गुरु गाँधीजी का, गौरव ज्ञान प्रचारो ॥ ११ ॥
उठो, होली खेलो उमङ्ग बगारो ।

(कविवर श्री पण्डित नाथूराम शंकर)

होली

(षटपद्)

(१)

चाव में डूबे उमङ्गों में भरे भावों ढले ।
गान के वर गौरवों की भू बना अपने गले ॥
कौतुकों की मूर्तियां बन कर वितानों के तले ।
भूति न्यारी भावुकों को भाल पर अपने मले ॥
जो परव त्योहार अपने हैं मनाते हो मगन ।
हैं बड़े वे भागवाले, हैं सदा वे धन्य जन ॥

(२)

हैं उठाते देश नभ के अर्क वे आनन्द घन ।
वे प्रफुल्लित हैं बनाते जाति-जीवन का बदन ॥
वे खिलाते हैं परस्पर प्यार के सुन्दर सुमन ।
हैं दिखाते खोलकर वे सभ्यता-संचित रतन ॥
हैं बड़ी ही बुद्धि से त्योहार वसुधा में रचित ।
चारुता से वह विभव जातीय करते हैं विदित ॥

(३)

जब सजा नव पल्लवों के पुंज से विटपावली।
जब रसालों में लसा कर मञ्जरी सोने ढली॥
जब बना छोटी बड़ी सब डालियाँ फूली फलीं।
हाथ में ले जब अनूठे रङ्ग की नाना कली॥
विहंसता ऋतुराज आता है महा मोदों सना।
रञ्जिता आमोदिता आनन्दिता वसुधा बना॥

(४)

मत्त हो होकर निकुंजों गूँजता है जब भ्रमर।
है सुनाती कूक कर जब कोकिला स्वार्गीय स्वर॥
बोल करके बोलियां मीठी रसीली मुग्ध कर।
जब विहगगन हैं दिशाओं को बनाते मंजुतर॥
जब मलय मारुत बड़ी ही चारुता के साथ चल।
है वहां देता उरों में मत्तता-धारा प्रबल॥

(५)

देख करके खेत को अपने सुअन्नों से भरा।
जब किसानों का हृदय-तल है बहुत होता हरा॥
की गई थी जो कमाई पत्थरों का पो बरा।
जब सुफल उसका उन्हें है, मुग्ध हो देती धरा॥
झोपड़ी से राजभवनों तक सुआशायें फला।
है विलसती दीखती संपन्नता की जब कला॥

(६)

तब उठेगी क्यों नहीं उर में विनोदों की लहर।
क्यों न जावेगा रुधिर में प्राणियों के ओज भर॥
रङ्ग लावेंगी उमंगें क्यों नहीं बन चारुतर।
चौगुना हो चाव चित्तों में करेगा क्यों न घर॥

फल स्वरूप इन्हीं सबों का पर्व होली है बना ।
जो बड़ा ही है मनोहर मुग्ध कर मन भावना ॥

(७)

जिस दिवस को गान छू प्रह्लाद का पावन परम ।
होलिका का अग्निमय अङ्कम हुआ था पुष्पसम ॥
है यही फागुन सुदि पूनो दिवस वह मञ्जुतम ।
है इसी से होगया त्योहार यह अधिकानुपम ॥
जिस दिवस को पुण्यजन की बात वसुधा में रही ।
जाति जीती उस दिवस को मान देगी क्यों नहीं ॥

(८)

धान्य कटने के समय सब देश का है यह चलन ।
लोग करते हैं विविध उत्सव बना उत्फुल्ल मन ॥
मान देते हैं बरस के आदि दिन को सर्वजन ।
है हुआ इस सूत्र से भी पर्व होली का सृजन ॥
हैं बड़े उत्साह से उसको मनाते निम्नजन ।
हैं उसे कहते इसी से पर्व उनका विज्ञ गन ॥

(९)

वृद्धि पाती है शिथिलता शीत की जब नित्य प्रति ।
पेड़ तक को है सरस करती किरण जब वार प्रति
तब इधर है ओजमय होता रुधिर जो छिप्र गति ।
व्याधियां उत्पन्न होकर हैं उधर लाती विपत्ति ॥
है इसी से यह व्यवस्था लोग हों उत्सव निरत ।
चित रखें उत्फुल्ल, पैन्हें वर वसन हों मोदरत ॥

(१०)

यह बड़ा ही भावमय त्योहार है जैसा मधुर ।
वैसे ही है देशव्यापी औ विमोहक लोक उर ॥

दीखती है इस परब में मत्तता इतनी प्रचुर।
है उमग पड़ता परम उससे नगर गृह ग्राम पुर॥
इन दिनों उठती है उस आनन्द की उर में लहर।
वैरिता जो है बरस दिन की मिटाता अङ्क भर॥

(११)

आज दिन रोते हुओं को लोग देते हैं हंसा।
मोद देते हैं व्यथामय मानसों में भी लसा॥
जिन कुचालों में समाज विमोहवश है जा फँसा।
हैं विमूढ़ों को जगा देते उन्हें आखों बसा॥
स्वांग लाकर सैंकड़ों नाना स्वरूपों बना।
भावमय गीतादि से जातीय दोषों को जना॥

(१२)

इन दिनों जैसा गमकता है मुरज बजता पनव।
वेणु बीणा आदि जैसा हैं सुनाते मंजु रव॥
कंठ जैसा है दिखाता ओज या माधुर्य नव।
है स्वरों जैसा विलसता चारु तर स्वारस्य जब॥
साल भर ऐसा मनोहर रङ्ग दरसाता नहीं।
है गगन रस सा बरसता मोद सरसाती मही॥

(१३)

हैं सरब होतीं रसीले कण्ठ से सड़कें सकल।
चौहटों चौपाल में हैं नित्य होता गान कल॥
है गली कूंचों विचरता गायकों का मत्त दल।
झोंपड़े होते ध्वनित हैं गूंज उठते हैं महल॥
स्वर सरसता है बड़ी सुकुमारता से सब समय।
पेड़ तक की डालियां होती हैं मंजुल नादमय॥

(१४)

अंग बङ्ग कलिंग होते हैं प्रमोदों में निरत ।
नाच उठता है सकल पञ्जाब हो आमोद-रत ॥
यह हमारा युक्तप्रान्त प्रमत्त होता है महत् ।
है मनाता मोद राजस्थान हो उन्मत्तवत् ॥
डूब जाती है विनोदों बीच भारत की धरा ।
ब्रज उमग पड़ता है हो जाता है हरियाना हरा ॥

(१५)

काल पा कर यह रुचिर त्योहार भी कलुषित हुआ ।
कसवियों का नाचना गाना अधिक प्रचलित हुआ ॥
गालियां बकना बहंकना मद्यपान विहित हुआ ।
डाल देना कीच कालिख पोतना समुचित हुआ ॥
ओज औ माधुर्य में बीभत्स आकर के मिला ।
पाटलों के पुंज बीच प्रसून बिम्बी का खिला ॥

(१६)

किन्तु इस त्योहार में तो भी दिखाती थी झलक ।
उस परस्पर प्यार की जिस में रहे सच्ची ललक ॥
नव उमंगों के सहित आमोद उठता था छलक ।
सो गई जातीयता भी खोल देती थी पलक ॥
भूल करके भेद और विरोध की बातें अखिल ।
एक ही रङ्ग बीच रङ्ग जाती थी सारी जाति मिल ॥

(१७)

किन्तु अब इस पर्व का है हो रहा जैसा पतन ।
किस विबुध का देख कर उसको व्यथित होगा न मन ॥
प्रति बरस है म्लान होता कञ्ज सा इस का वदन ।
है बिगड़ती जा रही इसकी बड़ी सुन्दर गठन ॥

धूल में है मिल रही इस की सभी मधु मानता ।
मत्तता आमोद मंजुलता उमंग महानता ॥

(१८)

विश्व में जिस पर्व से जो जाति है गौरव मई ।
है सदा जिसने मिटाई कालिमा जिस की कई ॥
है जिसे जिससे मिली बहु जीवनी धारा नई ।
कीर्ति जिसके व्याज से जिस की दिगन्तों में गई ॥
आह ! भ्रान्त अतीव बन उस जाति के ही वंशधर ।
नाश करते हैं इसे नहिं देख सकते आँख भर ॥

(१९)

दल अजानों का कुचालों में इधर उलझा रहे ।
दल सुबोधों का उधर निज गौरवों में ही बहे ॥
तो बता दो जाति किससे निज व्यथाओं को कहे ।
यह कुअवसर में लपक कर किस के दामन को गहे ॥
निज परब त्योहार में जिनकी नहीं ममता रही ।
वे मरम जातीयता का जानते कुछ भी नहीं ॥

(२०)

मण्डली नवशिक्षितों की है, नए रङ्गों ढली ।
है पुराने ढङ्गवालों के लिए सब ही भली ॥
वे नये ढङ्ग से खिलाना चाहते हैं सब कली ।
ये उसे तजते नहीं जो बात है अब तक चली ॥
द्वंद्व में पड़ कर इसी, अब वह नहीं नाता रहा ॥
सब परब त्योहार का वह रङ्ग ही जाता रहा ॥

(२१)

तीस चालीस साल पहले सामने जो था समा ।
जो अनूठापन परस्पर प्यार था आँखों रमा ॥

रङ्ग जैसा उन दिनों आमोद का देखा जमा।
जिस तरह से नव उरों में चाव रहता था थमा॥
आह ? हमको आज दिन वह बात दिखलाती नहीं।
वह उमंगें बादलों सी झूमती आती नहीं॥

(२१)

उन दिनों थी जोति फैली ज्ञान की इतनी नहीं।
उन दिनों भी सब कुचालें आज दिन की सी रहीं॥
किन्तु अपनापन रहा था आज से बढ़ कर कहीं।
इन दिनों सी तब न थीं जातीयता-भीतें ढहीं॥
एक दिल हो उन दिनों जैसे मिले लगते नहीं।
लोग वैसे आज दिन यक रङ्ग में रङ्गते नहीं॥

(२३)

किन्तु हमको है बहुत नवशिक्षितों से ही गिला।
प्यार मे क्या वे अजानों को नहीं सकते मिला॥
क्या मनोमालिन्य की जड़ वे नहीं सकते हिला।
वे पुनः जातीयता को क्या नहीं सकते जिला॥
हैं न ये बातें असंभव जो हृदय में त्याग हो।
जाति को अपने परब त्यौहार का अनुराग हो॥

(२४)

क्या हुआ लिक्खे पढ़े जो चित्त में समता न हो।
निज परब त्यौहार की औ जाति की ममता न हो॥
जो परस्पर प्यार में सद्भाव में रमता न हो।
थामने से भी हृदय का वेग जो थमता न हो॥
वह बड़प्पन, सभ्यता गौरव धरातल में धंसे।
रङ्ग जिस पर लोकहित की लालसा का नहिं लसे॥

(२५)

जो परब त्यौहार अपने हम टिकावेंगे नहीं ।
जो बुरी परिपाटियों को हम मिटावेंगे नहीं ॥
जो बहकते भाइयों को पथ दिखावेंगे नहीं ।
जोति जो घिरते तिमिर में हम जगावेंगे नहीं ॥
तो भला किसको पड़ी है और की जो ले बला ।
जाति ही सकती है कर निज जाति का सच्चा भला ॥

(२६)

आज भी वह बात इन में है कि जिससे हो भला ।
हम सुमति के साथ सकते हैं सुफल जिससे फला ॥
हम तिनक कर भूल, इनका घोंट सकते हैं गला ।
पर कहां फिर पा सकेंगे देशव्यापी बहु कला ॥
जाति जो नहिं पर्व उत्सव–प्रेमधारा में बही ।
वह रही तो नाम को संसार में जीती रही ॥

(२७)

ऐ नई पौधें करो मत जाति–हित में आतुरी ।
फूँक दो अनुराग निजता धुन भरी वर बाँसुरी ॥
ऐ पुराने ढङ्ग वालो छोड़ दो चालें बुरी ।
आंख खोलो फेर लो अपने गले पर मत छुरी ॥
प्यार से मिल, गोद में निज उत्सवों को है लेटा ।
जाति जीती कब रही निज कीर्ति–चिह्नों को मिटा ॥

(कविसम्राट् श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय